2-3

दुःख का प्रभाव



मानव सेवा संघ, वृन्दावन

Rs 5-50

दुःख का प्रभाव



प्रकाशक

मानव सेवा संघ, वृन्दावन

प्रकाशक :

मानव सेवा संघ, वृन्दावन
(मथुरा) उ० प्र० १८१ १२१



पाँचवी बार ४००० प्रतियाँ



जनवरी १९९४



मूल्य : पाँच रुपये



मुद्रक :
राष्ट्रीय प्रेस
डेम्पियर नगर, मथुरा
फोन : 406812

प्रार्थना

[प्रार्थना साधक के विकास का अचूक उपाय है]



मेरे नाथ !
आप अपनी
सुधामयी,
सर्व-समर्थ,
पतितपावनी
अहैतुकी कृपा से
दुःखी प्राणियों के हृदय में
त्याग का बल
एवं
सुखी प्राणियों के हृदय में
सेवा का बल
प्रदान करें;
जिससे वे
सुख-दुःख के बन्धन से
मुक्त हो,
आपके
पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर,
कृतकृत्य हो जायें

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

प्रार्थना



मेरे नाथ !
आप अपनी
सुधामयी,
सर्व-समर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से,
मानव-मात्र को
बिवेक का आदर
तथा
बल का सदुपयोग
करने की सामर्थ्य
प्रदान करें,
एवम्
हे करुणासागर !
अपनी अपार करुणा से
शीघ्र ही
राग-द्वेष का नाश करें;
सभी का जीवन
सेवा-त्याग-प्रेम से
परिपूर्ण हो जाय।
ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!



दुख का प्रभाव

एक परिचय

उषाकाल—पुत्र वत्सला की गोद में दुधमुहाँ शिशु - दूध की उष्ण मीठी धार का पान कर आनन्द-विभोर हो रहा था। प्रभात की शीतल, मन्द, सुखद हवा के एक झोंके ने शिशु से पूछा—"जीवन कैसा है नादान ?" शिशु ने माँ के आँचल में मुँह छिपाए हुए उत्तर दिया—"माँ के दूध-सा मीठा"।

वसन्त का चढ़ता हुआ दिन—कुञ्ज में विचरती हुई एक नवोढ़ा ने फूल की एक अधखिली कली तोड़कर पास ही खड़े युवक पर फेंकी। युवक मुस्कुराया। वसन्त की अलसायी हवा ने दम्पत्ति को स्पर्श करते हुए पूछा—"जीवन कैसा है पगले ?" युवक ने रमणी की आँखों में आँखें गड़ाए हुए उत्तर दिया—"यौवन-सा मदमाता।"

पावस की झड़ी—अमावस्या की रात्रि—निर्धन माँ रुग्ण बालक को कलेजे से चिपका कर भी फटे आँचल से बूँदों का प्रहार न रोक सकी। उसके कलेजे का टुकड़ा दम तोड़ गया। अपने थपेड़ों से जीण-शीर्ण झोंपड़ी को झकझोरते हुए बरसाती अन्धड़ ने पूछा—"जीवन कैसा है, हतभागे ?" मृत शिशु को कृश छाती से चिपकाये हुए माँ बोली—"काल-रात्रि-सा भयावह।"

ये हैं जीवन के कुछ चित्र, एक कहानीकार की आँखों से देखे गये। शब्दावली मुझे ठीक-ठीक याद नहीं है, पर भाव

स्पष्ट है। प्रातः का मिठास और दोपहरी की मादकता हम सब चाहते हैं, पर रात्रि के निविड़ अन्धकार की भयंकरता कोई नहीं चाहता; क्योंकि दुःख हमें अप्रिय है।

सच है, दुःख अपना हो या पराया, शारीरिक हो या मानसिक, बड़ा हो या छोटा, अच्छा नहीं लगता। पर क्या किया जाय ? बहुत बुरा लगता है, फिर भी सहना पड़ता है। जीवन का यह एक ऐसा कटु सत्य है कि आज तक इससे कोई बचा नहीं।

बिन बुलाये दुःख आता है। आग्रह करने पर भी सुख रहता नहीं, चला ही जाता है। हम गये हुए सुख के लिए तरसते हैं, आये हुए दुःख से घबड़ाकर बिलखते हैं और पुनः सुख आयेगा, इस तृष्णा में जीते हैं। कैसी दयनीय दशा है !

आइये विचारें कि जो दुःख जीवन का अनिवार्य अंग है जिससे कि आज तक कोई बचा नहीं, वह क्या वस्तुतः बुरा है ? भयावह है ? निन्दनीय है ? दुष्कर्मों का दुष्परिणाम है ? भाग्यविधाता का दण्ड-विधान है ? या कि सृष्टिकर्त्ता की भूल है ?

सामान्य दृष्टि से ऐसा ही मामूल होता है। हम सब अब तक ऐसा ही मानते रहे हैं। परन्तु यह सोचने की बात है कि दुःख वस्तुतः बुरा होता, तो जीवन में आता क्यों ? जर्मन दर्शनकार लीबनिट्ज (Libnitz) ने कहा है—"This is the best possible world created by God" दुःख यदि बुरा होता तो ' The best possible world." में इसका कोई स्थान ही नहीं होना चाहिए था। पर हम सब जानते हैं कि

संसार के अधिकांश भाग में दु:ख ही भरा है, सुख का हिस्सा बहुत कम है।

तब, फिर दु:ख को क्या कहा जाय ? प्रस्तुत पुस्तक "दु:ख का प्रभाव" में दु:ख के इस रहस्यमय स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। अनोखा 'एप्रोच' है, अनूठा दृष्टिकोण है। इसके अनुसार दु:ख दुष्कर्मों का परिणाम नहीं है, अपितु कृपा-पूरित विधान की अनुपम देन है।

आप आश्चर्यचकित हो रहे होंगे यह सोचकर कि हमारी दैनिक अनुभूति तो यह है कि सिर की पीड़ा से हम व्यग्र होते हैं, प्रियजनों के वियोग से विकल होते हैं, शोक-सन्ताप में जलते हैं, फिर कैसे माना जाय कि दु:ख विधाता की अनुपम देन है ? दु:ख तो जीवन का अभिशाप मालूम होता है।

ठीक है बन्धु, आपका सोचना भी ठीक है। इसलिए कि अब तक हम सब दु:ख भोगते रहे हैं। दु:ख का हमने सदुपयोग नहीं किया है, दु:ख के प्रभाव से प्रभावित नहीं हुए हैं, अन्यथा जीवन में क्रान्ति आ गयी होती। इतना तो हम सब लोग जानते ही हैं कि लाख उपाय करो—कितना ही नापसन्द करो, दु:ख आता ही है। उसको रोकने में हम लोग सर्वथा असमर्थ हैं। जो इतना प्रबल है कि न चाहने पर भी आता ही है, उसको बुरा कहने से अथवा उससे भयभीत होने से अब तक कुछ लाभ नहीं हुआ। हाँ, एक बात सोचने की है कि जिसका काला पक्ष ही हमने देखा है, जिसका अप्रिय पहलू ही हमारी दृष्टि में रहा है, उसका उज्ज्वल पक्ष भी है, उसका उपयोगी पहलू भी है। उस पर दृष्टि पड़ते ही आप आनन्द से उछल

पड़ेंगे। युग-युग से बदनाम दुःख का यह उज्ज्वल पक्ष प्रस्तुत पुस्तक में प्रतिपादित है।

इस दृष्टिकोण को समझने के लिए दुःख और उसके प्रभाव के स्वरूप पर विचार करलें– कामना अपूर्ति दुःख है, उससे विकल होना दुःख का भोग है और उससे सजग होना दुःख का प्रभाव है। इसी में सारा रहस्य छिपा है। दुःख स्वयं अपने में न प्रशंसनीय है और न निन्दनीय है। प्रश्न सिर्फ इतना है कि आप दुःख को भोगते हैं या कि उसके प्रभाव से प्रभावित होकर सचेत होते हैं! यदि आप दुःख के भोगी हैं, तो दुःख अभिशाप है। वह कभी आपका पीछा नहीं छोड़ेगा। यदि आप दुःख से प्रभावित हैं, तो दुःख वरदान है। वह आपको दुःख-रहित जीवन से अभिन्न करा देगा।

दुःख के भोग और दुःख के प्रभाव का अन्तर देखिये— कामना-पूर्ति में सुख और कामना-अपूर्ति में दुःख का भास होता है।

(क) दुःख की प्रतीति में सुख की आशा जगे, तो यह दुःख का भोग है। आया हुआ दुःख सुख में भी दुःख का दर्शन करा दे, तो यह दुःख का प्रभाव है। किसी की प्रिय सन्तान की मृत्यु हो जाती है। सन्तति-विहीन होने के दुःख से बचने के लिए वह अन्य सन्तान की आशा करता है। यह दुःख का भोग है। राजकुमार सिद्धार्थ ने एक शव देखा और दुःख अनुभव किया। उन्होंने सोचा 'हम भी मरेंगे' और उन्हें जीवन में ही मृत्यु का दर्शन हो गया। यह दुःख का प्रभाव है। इस प्रभाव ने उन्हें अमरत्व प्रदान किया।

(ख) दु:ख का भोग सुख की आशा में आबद्ध रखता है, जिससे दु:खी के दु:ख का अन्त नहीं होता। दु:ख का प्रभाव सुख की आशा से रहित करता है। दु:ख-भोग से जड़ता आती है और दु:ख के प्रभाव से चेतना जगती है।

(ग) दु:ख को सहन करते रहना दु:ख का भोग है। दु:ख के कारण की खोज करना दु:ख का प्रभाव है।

(घ) सुख-भोग में आदि से अन्त तक दु:ख मिश्रित है। सुख के भोगी को दु:ख भोगना ही पड़ता है। अन्तर केवल इतना है कि सुख हम चाहते हैं और दु:ख बरबस आता है।

(ङ) प्राकृतिक नियमानुसार आंशिक सुख-दु:ख सबके जीवन में है। यदि व्यक्ति आंशिक सुख से प्रभावित हो, तो दु:ख का भय एवं भोग होगा। सुख का अर्थ है, कामना-पूर्ति। कामना वह है जो उत्पत्ति-युक्त वस्तु व्यक्ति आदि से आपका सम्बन्ध जोड़ दे। कुछ कामनाएँ सबकी पूरी होती हैं। अर्थात् आंशिक सुख का भास सबको होता है। कामना-पूर्ति-जनित आंशिक सुख के भास को यदि जीवन मान लें, तो उत्पन्न हुई वस्तु-व्यक्ति आदि का नाश होगा स्वभाव से, परन्तु उनके आश्रित सुख चाहने वाले को घोर सन्ताप होगा उनके अभाव में। यह दु:ख का भोग है। यदि व्यक्ति आंशिक दु:ख से प्रभावित हो, तो दु:ख सदा के लिए मिट जायेगा। दु:ख का भोगी दूसरों को दु:ख देता है। जिस पर दु:ख का प्रभाव हो जाता है वह किसी को दु:ख नहीं देता। वह तो पर-पीड़ा से करुणित ही होता है।

(च) दुःख आते ही हम सुख के पीछे दौड़ते हैं। यह दुःख के भोग की पहचान है। क्षणिक सुख द्वारा दुःख को दबाना चाहते हैं। दुःख से घबड़ाकर हम करणीय एवं अकरणीय कर्म कर बैठते हैं। परिणाम में अनन्त गुना दुःख पाते हैं। यह दुःख का भोग है। यह विनाश की राह है। दुःख का प्रभाव सुख-लोलुपता का नाश करता है और दुःख को निर्मूल करता है। यह विकास का पथ है।

(छ) दुःखी दु;ख काल में भी सुख की सम्भावना मात्र से दुःख सहता रहता है। दुःख को सहते रहना, उसकी निवृत्ति का मार्ग न ढूँढ़ना दुःख का भोग है। सुख के बाद दुःख के दर्शन से आप में यह चेतना क्यों नहीं जगती कि सुख-दुःख दोनों ही आने-जाने वाले हैं। इनमें स्थिरता नहीं है। अतः हमें दुःख नहीं चाहिए, तो सुख भी नहीं चाहिए। ऐसी सजगता आते ही आपका प्रवेश सुख-दुःख से अतीत के जीवन में हो जायेगा। यह दुःख का प्रभाव है।

(ज) दुःख के एक और नये पक्ष का विवेचन देखिये—सुख के जाने और दुःख के आने के भय से प्राणी त्रस्त रहता है। दुःख के भय से भयभीत रहने का परिणाम यह होता है कि व्यक्ति —

१—प्राप्त का सदुपयोग नहीं कर पाता।

२—शक्ति क्षीण होती है।

३—आवश्यक विकास नहीं होता।

४—असावधानी और प्रमाद पोषित होते हैं।

मूल पुस्तक में आपको इन चार बातों की विस्तृत व्याख्या मिलेगी। आप पायेंगे कि आपके जीवन में कितने गहरे पैंठ पर अध्ययन किया गया है। हम और आप अब तक करते क्या रहे ? दुःख जीवन में समय-समय पर आता रहा, हम उससे भयभीत होते रहे और भय का जो दुष्परिणाम है, वह भी भोगते रहे।

(i) दुःख से भयभीत होने से दुःख मिटता नहीं, अपितु दूना हो जाता है।

(ii) क्षणिक सुख के द्वारा दुःख को दबाने का प्रयास करने पर भी दुःख मिटता नहीं है। दबा हुआ दुःख कई गुना बड़ा होकर पुनः सामने आता है। दुःख के भय से भयभीत होना दुःख का भोग है। दुःख का प्रभाव सुख के स्वरूप का स्पष्ट दर्शन कराता है। सुख के स्वरूप का बोध होते ही सुख की लोलुपता मिट जाती है। दुःख का प्रभाव सुख का नाश नहीं करता, सुख की लोलुपता को मिटाता है। तब दुःख का भय मिट जाता है तथा असमर्थता, अकर्त्तव्य और आसक्ति का अन्त हो जाता है, जो विकास का मूल है।

(iii) दुःख के महत्व को न जानने से दुःख का भय होता है। दुःख का महत्व जान लेने पर दुःख का प्रभाव होता है। अतः दुःख का भय व्यर्थ ही नहीं, महा अनर्थकारी है। इसलिए आये हुए दुःख के भय से भयभीत न होकर उसके प्रभाव से प्रभावित होना अनिवार्य है।

कामना-पूर्ति का सुख हमारी माँग नहीं है। वह तो हमारा प्रमाद है। हमारी माँग है–दुःख-निवृत्ति, चिर-विश्राम, पूर्ण-स्वाधीनता एवं परम-प्रेम जो कि वास्तविक जीवन है। उसकी उपलब्धि किसी अभ्यास से नहीं होती, अपितु दुःख के प्रभाव से होती है। हम और आप मानव हैं, वास्तविक जीवन से अभिन्न होना चाहते हैं। अपने जाने हुए असत् के संग के त्याग के बिना असाधन नहीं मिटेगा यह भी हम सब लोग जानते हैं। फिर भी साधक-समाज में यह सर्व-सामान्य प्रश्न (Common question) उपस्थित रहता है कि देह का अभिमान कैसे छोड़ें ? सुख की लोलुपता कैसे तोड़ें ? काम, क्रोध, लोभ, मोह से रहित कैसे हों ? वस्तु-व्यक्ति आदि का आश्रय कैसे छोड़ें ? प्रभु में अविचल आस्था कैसे करें ? कैसी विडम्बना है ! हम यह सब कर सकते हैं, फिर भी न मालूम क्यों कठिन बताते हैं ! बहुत समय लग जाता है, समस्या हल नहीं होती।

ऐसे कठिन समय में 'दुःख का प्रभाव' आपकी सहायता करता है। विचार के द्वारा जिस सुख का राग नहीं मिटता, वह दुःख के प्रभाव से सहज ही मिट जाता है। दुःख का प्रभाव जिस पर हो जाता है उसकी जन्म-जन्मान्तर की जड़ता पल भर में टूट जाती है। प्रमाद मिट जाता है, चेतना जग जाती है। सही अर्थ में सत्संग हो जाता है। एक और बड़ी विशेषता यह होती है कि दुःखी को अपने गुणों का अभिमान नहीं होता अर्थात् उसे यह भास नहीं होता कि मैंने त्याग किया है। मैं त्यागी हूँ–यह साधन पथ की एक बहुत बड़ी बाधा है। दुःख का प्रभाव इस बाधा को सहज ही मिटा देता है। दुःख का प्रभाव

साधक को किस प्रकार वास्तविक जीवन से अभिन्न करता है, इसकी विशद् व्याख्या आपको प्रस्तुत पुस्तक में विभिन्न खण्डों में विभिन्न प्रकार से मिलेगी और आप दुःख की महिमा से अभिभूत हो उठेंगे।

इस प्रकार दुःख के महत्त्व से परिचित हो जाने के बाद आप नहीं कह पायेंगे कि दुःख बुरा है। अब विचार करें कि दुःख क्या है? केवल दुःख किसी व्यक्ति को कभी नहीं मिला। सुख एवं दुःख मिश्रित परिस्थितियाँ बनती हैं। प्रस्तुत पुस्तक में सुख और दुःख के सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए जीवन के इन अविच्छिन्न पहलुओं का वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। यह दिखलाया गया है कि—

(क) सुख-काल में जो सुख के चले जाने की विस्मृति होती है, उसी से दुःख आता है।

(ख) मंगलमय विधान से दुःख बार-बार इसलिए आता है कि सुख का प्रलोभन मिटे, रस की अभिव्यक्ति हो, जो मानवमात्र की मौलिक माँग है।

(ग) जब हम अपनी मौलिक माँग को भूलकर सुख में लिप्त हो जाते हैं, तब हमें सजग करने के लिए दुःख आता है।

(घ) सुख के स्वरूप का बोध कराने के लिये दुःख आता है। सुख की वास्तविकता का बोध होने पर मौलिक माँग की पूर्ति की लालसा तीव्र होती है। तब हमें जीवन मिलता है। अतः आया हुआ दुःख प्रकृति का दण्ड-विधान नहीं है, अपितु ऐसा अनुपम उपहार है कि जिसको पाकर ही व्यक्ति कृतार्थ होता है।

(ङ) जो अनन्त सभी का परम सुहृद है, उसी के विधान से दुःख आता है। अनन्त का विधान मंगलमय है। उसमें क्रोध अथवा प्रतिशोध नहीं है। तब भला दुःख उसका बनाया हुआ दण्ड-विधान कैसे हो सकता है? दुःख का विवेचन करते हुए पुस्तक के प्रणेता ने यहां तक कह दिया है कि सुख-लोलुपता में फँसकर जब हम अपने लक्ष्य को भूल जाते हैं, तो स्वयं दुःखहारी प्रभु ही दुःख के वेष में दर्शन देते हैं और हमें सचेत बनाकर सदा के लिए दुःख-रहित कर देते हैं। इस दृष्टि से दुःख और दुःखहारी प्रभु एक हैं। इतना गहरा अर्थ है हमारे जीवन में आए हुए दुःख का।

दुःख अनेक प्रकार से हमारे जीवन में आता है। एक प्रकार का दुःख अपनी की हुई भूल से उत्पन्न होता है। इस दुःख से दुःखी अधीर हो जाता है। उसके स्वाभिमान को गहरी ठेस लगती है। समाज की ओर से भी तिरस्कार पाता है। अपनी दृष्टि में भी आदर के योग्य न रहने की असह्य व्यथा पाता है। ऐसा दुःख भी यदि आए हुए दुःख के अर्थ को अपनाकर की हुई भूल को न दुहराने का दृढ़-सकल्प कर लेता है, तो उसकी वर्तमान निर्दोषता सुरक्षित हो जाती है। की हुई भूल के गहरे पश्चात्ताप की जलन दुःखी के भीतर से सुख की रुचि को भस्म कर देती है। सब ओर से तिरस्कृत दुःखी सहज ही काम-रहित होकर चिर-विश्राम पाता है, जो सब प्रकार के विकास की भूमि है।

दूसरे प्रकार का दु;ख परिस्थितिजन्य होता है। इसमें दुःखी की भूल हेतु नहीं होती। इस तरह के प्राकृतिक दुःख से

दुःखी व्यक्तियों के प्रति विश्व की ओर से करुणा की धारा बहती है। उनको आवश्यक आदर. प्यार तथा सहयोग भी मिलता है। उनका स्वाभिमान भी सुरक्षित रहता है।

ऐसे दुःखी व्यक्ति यदि मिले हुए आदर, प्यार एवं सहयोग को अपनी खुराक बना लेते हैं, तो उनका दुःख निर्जीव हो जाता है। इसके विपरीत यदि वे प्राकृतिक घटनाचक्र को देखकर उसके स्वरूप पर विचार करते है, तो दुःख सजीव रहता है और वे सहज ही दुःख के प्रभाव को अपनाकर दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्न हो जाते हैं, जो मानव-मात्र का परम लक्ष्य है।

तीसरे प्रकार का दुःख विचारजन्य होता है। विचार-शील व्यक्ति संयोग में वियोग, जीवन में मृत्यु एवं सुख में दुःख का दर्शन कर वास्तविक जीवन से अभिन्न होने के लिए व्याकुल हो उठता है। यह व्याकुलता कामना-निवृत्ति, जिज्ञासा-पूर्ति एवं प्रेम-प्राप्ति में हेतु होती है।

अतः दुःख चाहे जैसा हो, उसका प्रभाव व्यक्ति के लिए परम कल्याणकारी है। दुःख स्वरूप से न्यूनाधिक भी नहीं है। दुःख वास्तव में दुःख ही है। अधिक दुःख होने से प्रभाव होगा, कम दुःख होने से प्रभाव नहीं होगा, ऐसा नियम नहीं है। दुःख का प्रभाव सावधान व्यक्तियों पर होता ही है। एक बार दुःख का प्रभाव हो जाता है, तो दुःख सदा के लिए मिट जाता है।

सुख-भोग की रुचि ही दुःख का मूल है। परन्तु कैसी आश्चर्य की बात है कि मूल (सुखभोग) को हम लोग अपना सब

कुछ देकर सुरक्षित रखना चाहते हैं, पर उसका जो फल (दु ख) है उसे नहीं चाहते। यह सर्वथा असम्भव है। यही कारण है कि सुख को बनाए रखने में आज तक कोई सफल नहीं हुआ; क्योंकि सुख वस्तुत: दु:ख-रूप ही है या यों कहें कि सुख है ही नहीं। हम व्यर्थ ही उसकी दासता स्वीकार कर अपने को दु:ख के प्रभाव से वंचित कर लेते हैं।

विचार करिए—कामना पूर्ति में सुख का भास और कामना-अपूर्ति में दु:ख की प्रतीति होती है। कामना उत्पत्ति से संक्षोभ उत्पन्न होता है। हम तनाव (tension) अनुभव करते हैं। कामना-पूर्ति के लिए क्रियाशील हो उठते हैं। कभी कभी कामना पूरी हो जाती है, पर साथ ही भोगने की शक्ति का ह्रास एवं भोग्य वस्तु का विनाश आरम्भ हो जाता है। भोगे हुए सुख के राग के कारण नवीन कामनाओं की उत्पत्ति हो जाती है।

कामना उत्पत्ति के आरम्भ एवं अन्त में दु:ख है। बीच में कुछ क्षण के लिए सुख का भास होता है, जो दु:ख की अपेक्षा अति अल्प है। इसमें गहरे रहस्य की बात यह है कि कामना-पूर्ति के क्रम में बीच में क्षण भर के लिए सुख का भास होता है,। वह भी कामना-पूर्ति का सुख नहीं है। हम प्रमादवश उस सुखाभास को कामना-पूर्ति जनित मान लेते हैं। फलस्वरूप नवीन कामनाओं के शिकार होते हैं। सुख वस्तुत: कामना-पूर्ति में है ही नहीं। कुछ क्षण के लिए जो सुख का भास होता है वह कामना उत्पत्ति के तनाव (Tension) के ढीले (Released) होने का सुख है। वस्तुत: वह क्षण निष्कामता का होता है जिस

समय कि कोई, कामना हमें उद्वेलित करती हुई नहीं होती। कैसी अद्‌भुत बात है !

मानव कामना से प्रेरित होकर भीतर एवं बाहरी द्वन्द्व का शिकार इसलिए होता रहता है कि वह सुख को कामना-पूर्ति का ही परिणाम मानता रहता है। यही कारण है कि राष्ट्रों के नवनिर्माण की जितनी बड़ी-बड़ी योजनायें आज चल रही हैं सबमें मुख्य उद्देश्य यह रखा गया है कि जन-समूह की इच्छापूर्ति की सामग्री सुगमता से उपलब्ध कराई जाय। परन्तु जितनी ही सामग्री बढ़ती जाती है, उतनी ही जरूरतें भी बढ़ रही हैं। समस्या हल नहीं हो रही है। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि आज का विचारशील व्यक्ति इस रहस्य को जान ले, तो वह बहुत ईमानदारी से सहज ही कामनाओं का त्याग कर सकता है।

मनोविज्ञानवेत्ता इस रहस्य से अनजान हैं। यदि वे इस रहस्य को समझ लें तो फिर उनकी एक बहुत बड़ी समस्या सुलझ जाय कि मानसिक ग्रन्थियों (Mental complexes) को समूल कैसे मिटाया जाय ? मानसिक रोगों की जितनी भी चिकित्सा-पद्धतियाँ निकली हैं, उनमें-से कोई भी रोग को समूल मिटा देती हो, ऐसा अब तक प्रमाणित नहीं हुआ है। कामना-पूर्ति में सुखाभास मानने की भूल जब तक मनुष्य के जीवन में रहेगी, तब तक उसका मस्तिष्क मस्तिष्क की गुत्थियों से मुक्त (Complex free) हो ही नहीं सकता। कामन-पूर्ति में सुख नहीं है, कामना-निवृत्ति में विश्राम है, यह भेद समझ लेने पर सभी सहज ही निष्कामताजनित विश्राम पाकर कृतकृत्य हो सकते हैं। ऐसा अद्‌भुत है सुख-दुःख का यह विवेचन।

गवेषणापूर्वक विचार करने पर स्पष्ट विदित होता कि कामना पूर्ति में सुख की प्रतीति मृग-मरीचिका के तुल्य है। दुःख के प्रभाव से यह भ्रम मिट जाता है। अतः दुःख बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है।

अब आप सोचेंगे कि जो दुःख इतना महत्त्वपूर्ण एवं कल्याणकारी है और जो हम सबको बिना माँगे मिलता भी है, उसका प्रभाव हम सब पर क्यों नहीं होता ?

हम ऐसा तो नहीं कह सकते कि दुःख का प्रभाव व्यक्तियों पर हुआ नहीं और होता नहीं है। हमारे सम्मुख अनेक ऐसे उदाहरण हैं जिनमें हम पायेंगे कि दुःख के प्रभाव ने व्यक्ति को बहुत ऊँचा उठाया है। यदि मैं ऐसा कहूं कि दुःख के प्रभाव के बिना आज तक किसी का विकास हुआ ही नहीं, तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

किसी भी महान् पुरुष के चरित्र को देखा जाय, तो उसके विकास के मूल में दुःख का प्रभाव उपस्थित है। विचारणीय प्रश्न केवल यह है कि जिस दुःख के प्रभाव से वे महापुरुष प्रभावित हुए वही दुःख हमारे आगे आकर क्यों व्यर्थ गया ? इस प्रश्न का भी बहुत ही वैज्ञानिक समाधान आपको प्रस्तुत पुस्तक में मिलेगा। दुःख के प्रभाव में बाधा क्या है ? कौन व्यक्ति दुःख के प्रभाव से प्रभावित होता है ? इस सम्बन्ध में यह कहा गया है कि दुःख का प्रभाव उन्हीं सावधान प्राणियों पर होता है—

(१) जो जीवन में हार स्वीकार नहीं करते;

(२) जो लक्ष्य से निराश नहीं होते;

(३) जो विकास में अविचल आस्था रखते हैं;

(४) जो परिस्थितियों के आधार पर अपना मूल्यांकन नहीं करते;

(५) जो दुःखद घटनाओं के अर्थ पर दृष्टि रखते हैं और उनका अध्ययन करते हैं;

(६) जिनसे दुःख किसी भी प्रकार सहन नहीं होता।

लक्ष्य की विस्मृति हो जाय, तो दुःख का प्रभाव नहीं होता। सुख-भोग जीवन है, इस प्रमाद से लक्ष्य की विस्मृति होती है। सुख की वास्तविकता और दुःख का महत्त्व जान लेने पर लक्ष्य की स्मृति आती है, तब दुःख का प्रभाव होता है।

जो सजग पुरुष दुःख की महिमा को जानते हैं वे अपना सुख देकर दूसरों का दुःख अपनाते हैं। पर-पीड़ा से पीड़ित होने पर जीवन में अनन्त ऐश्वर्य एवं माधुर्य का प्रादुर्भाव होता है। ऐश्वर्य तो इतना कि उस व्यक्ति को किसी की आवश्यकता नहीं रह जाती और माधुर्य इतना कि सारा विश्व उसका अपना हो जाता है। सबकी व्यथा उसको अपनी व्यथा होती है। करुणा और उदारता से वह परिपूर्ण होता है। आवश्यकता केवल दुःख को अपनाने की है। दुःख चाहे अपना हो अथवा पराया, उसके प्रभाव से प्रभावित होते ही जागृति आती है, प्रमाद मिटता है, विवेक का आदर करने की सामर्थ्य आती है। और दुःख-निवृत्ति, चिर विश्राम, पूर्ण स्वाधीनता एवं परम प्रेम से अभिन्नता होती है, जो मानव मात्र का परम लक्ष्य है। अतः दुःख के प्रभाव की महिमा अपरम्पार है। मेरे लिए तो यह रत्न-चिन्तामणि सिद्ध हुआ है।

पुस्तक होती है किसी विषय की विस्तृत व्याख्या और भूमिका होती है उसका संक्षिप्त परिचय अथवा सारांश एवं लेखक की दृष्टि से पुस्तक के गुण-दोष का उल्लेख। मैंने जो

भूमिका आपके सामने प्रस्तुत की है वह केवल इस दृष्टि से कि पुस्तक समझने में सुगमता हो। "दुःख का प्रभाव" मूल पुस्तक दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक एवं वैज्ञानिक सूत्रों में लिखी गई है। प्रत्येक खण्ड और कहीं कहीं पर प्रत्येक वाक्य ऐसे सारगर्भित हैं कि उनका सारांश लिखने के वदले उनकी व्याख्या करने की आवश्यकता पड़ गई है। साथ ही यह संकोच भी है कि भूमिका वहुत बड़ी न हो जाय। दोनों उद्देश्यों का निर्वाह करते हुए मैंने मूल पुस्तक में प्रतिपादित नवीन, क्रांतिकारी दृष्टिकोण को उपस्थित करने की चेष्टा की है।

पुस्तक के गुण-दोष का विवेचन मैं क्या कर सकती हूं! एक ही वात अनेक पहलुओं से सोची गई है। हमारे जीवन के ही इतने चित्र इसमें चित्रित हैं, इतने भाव हैं और उन पर इतने विचार है कि सवको मैं एक वार में 'ग्रास्प' ही नहीं कर सकी, सव मेरी पकड़ में नहीं आये। उनका समुचित मूल्यांकन तो कर ही क्या सकती हूं?

हाँ, इतना कह सकती हूँ कि प्रस्तुत पुस्तक में प्रतिपादित दृष्टि के दृष्टा ने दुःख को अपने जीवन में ऐसा ही पाया है। वाल्यकाल में ही दुःख विकट रूप में आया, अरमानों को गहरी ठेस लगी और जीवन की खोज आरम्भ हो गई। उस दुःख ने उन्हें वहाँ पहुंचा दिया जहाँ दु.ख का लेश नहीं है, चिर-विश्राम है, पूर्ण स्वाधीनता है और नित-नव प्रेम का रस लवालव भरा है। इसलिए "दुःख के प्रभाव" में जो कुछ कहा गया है वह अनुभूत सत्य है, अतिशयोक्ति अथवा अनुमान नहीं है। इसलिए मुझे अतिशय प्रिय है।

मानव सेवा संघ, माघ मेला कैम्प — विनीता
१६-१-६१ प्रयाग — देवकी

दुःख का प्रभाव

प्राकृतिक नियमानुसार जो न चाहने पर भी प्रत्येक प्राणी के जीवन में आ ही जाता है, वही दुःख है और जो चाहते हुए भी नहीं रहता, वही सुख है। ऐसे दुःख-सुख को बलपूर्वक रोकना अथवा बनाये रखना किसी भी प्राणी के लिए सम्भव नहीं है। जिसका रोकना सम्भव नहीं है, उसका आदर पूर्वक स्वागत करना अनिवार्य है और जिसके सुरक्षित रखने में सभी असमर्थ हैं, उसमें जीवन-बुद्धि स्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह नियम है कि जिसे बलपूर्वक नहीं रोक पाते, उसके आने पर भयभीत होना और जो न चाहते हुए भी चला जाता है, उसकी दासता का अंकित होना साधारण प्राणियों के लिए स्वाभाविक-सा है; यद्यपि वास्तविक मांग की खोज करने पर स्पष्ट विदित होता है कि भय तथा दासता से युक्त जीवन किसी को भी अभीष्ट नहीं है।

इस दृष्टि से मानव-जीवन की मौलिक माँग सब प्रकार के भय तथा दासता से मुक्त होना है। मंगलमय विधान के अनुसार माँग की पूर्ति प्रत्येक परिस्थिति में सम्भव है। कामना पूर्ति कामना के अनुरूप परिस्थिति में ही सम्भव है, परन्तु माँग की पूर्ति प्रत्येक परिस्थिति में होती है। अतएव परिस्थिति-भेद होने पर मांग की पूर्ति से निराश होना अथवा किसी परिस्थिति विशेष का आह्वान करना असावधानी तथा भूल से भिन्न और कुछ नहीं है।

भयभीत होने पर प्राप्त सामर्थ्य, योग्यता तथा वस्तु का सद्व्यय नहीं हो पाता और प्राकृतिक नियमानुसार भयभीत होने से आवश्यक विकास भी नहीं होता, कारण कि भय से शक्ति क्षीण होती है और असावधानी और प्रमाद पोषित होते हैं, जो विनाश का मूल है। भय का सर्वांश में नाश करने के लिए अपने-आप आये हुए दु:ख का प्रभाव आवश्यक है, उसका भोग नहीं। दु:ख का भोग गये हुए सुख की दासता तथा लोलुपता एवं उसकी आशा में आबद्ध करता है। जिसे किसी भी प्रकार न रख सकें, उसकी दासता, लोलुपता एवं आशा करना किसी के लिए भी हितकर नहीं है। इस दृष्टि से दुःख के भय तथा सुख की दासता का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

सुख की दासता के रहते हुए दु:ख का भय किसी भी प्रकार मिट नहीं सकता। इस कारण सुख की दासता का अन्त करना अनिवार्य है। सुख की दासता आये हुए सुख को सुरक्षित नहीं रख पाती, फिर भी सुख का भोगी उसका त्याग नहीं करता। यह कैसी विडम्बना है! सुख की दासता ही दु:ख का भोग कराती है, दु:ख का प्रभाव नहीं होने देती। दु:ख का प्रभाव सुख-काल में भी सुख की दासता से मुक्त कर देता है। इस दृष्टि से आये हुए दु:ख का प्रभाव विकास का मूल है। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं, जिन्होने सुख-दु:ख की वास्तविकता को भलीभाँति निज विवेक के प्रकाश में अनुभव किया है।

वस्तुत: दुख का भय ही दु:खी को दु:ख के भोग में प्रवृत्त करता है, उसका प्रभाव नहीं होने देता। जिस अनुकूलता के

जाने का दुःख है, क्या वह अनुकूलता किसी भी प्रयास से सुरक्षित रह सकती है ? कदापि नहीं। जिस प्रतिकूलता से प्राणी भयभीत है, क्या वह सदैव रहेगी ? कदापि नहीं। प्रतिकूलता अनुकूलता की दासता का अन्त करने के लिए आती है। उससे भयभीत होना भूल है। अनुकूलता करुणित बनाने के लिए आती है। उसका भोग करना प्रमाद है। इस दृष्टि से अनुकूलता तथा प्रतिकूलता सदैव नहीं रहेंगी। इन दोनों का सदुपयोग अनिवार्य है। इनमें जीवन-बुद्धि स्वीकार करना असावधानी है। असावधानी के समान और कोई बात अहितकर नहीं है। असावधानी का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। इस कारण वर्तमान में ही सजगतापूर्वक असावधानी का अन्त करना अनिवार्य है। निज विवेक के अनादर से ही असावधानी उत्पन्न होती है। असावधानी किसी और की देन नहीं है और न किसी कर्मविशेष का ही फल है, अपितु उत्पन्न हुई असावधानी निज विवेक का आदर करने पर स्वतः नष्ट हो जाती है। दुःख का प्रभाव निज विवेक के आदर में हेतु है और दुःख का भोग अविवेक को पोषित करता है।

दुःख का प्रभाव सुख-लोलुपता का अन्त कर मानव को सुख की आशा से मुक्त कर देता है। सुख की आशा से रहित होते ही सुख-दुःख से अतीत के जीवन की तीव्र जिज्ञासा तथा उत्कट लालसा जागृत होती है, जो विकास का मूल है।

सुख के न रहने अथवा उसके चले जाने की सम्भावना से दुःख की प्रतीति होती है। दुःख की प्रतीति होने पर यदि असावधानी से सुख की आशा उत्पन्न हो गई, तो दुःख का भोग

होगा, प्रभाव नहीं। यदि आये हुए दुःख ने सुख की आशा को उत्पन्न नहीं होने दिया, अपितु प्राप्त सुख में भी दुःख का दर्शन करा दिया, तो यह दुःख का प्रभाव है। सुख में दुःख का दर्शन होते ही सुख के भोग की रुचि का नाश होता है, जिसके होते ही सुख-लोलुपता तथा सुख की आशा शेष नहीं रहती और फिर स्वतः दुःख का प्रभाव दुःख का अन्त कर वास्तविक जीवन से साधक को अभिन्न कर देता है। दुःख का भोग दुःखी को न तो सुखी कर पाता है और न दुःख का ही अन्त होता है, अपितु बेचारा दुःख का भोगी सुख की आशा में ही आबद्ध रहता है। इस दृष्टि से दुःख का भोग दुःखी का अहित ही करता है। दुःख के प्रभाव तथा उसके भोग का अन्तर स्पष्ट हो जाने पर प्रत्येक दुःखी दुःख के प्रभाव को अपनाकर कृतकृत्य हो सकता है। दुःख का भोग जड़ता और दुःख का प्रभाव चेतना प्रदान करता है। सुख के भोगी को दुःख विवश होकर भोगना ही पड़ता है। सुख-भोग की रुचि बनाये रखने पर दुःख का भोग होता ही रहता है। इस कारण दुःख-भोग की रुचि का नाश अनिवार्य है, जो दुःख के प्रभाव से ही सम्भव है।

प्राकृतिक नियमानुसार सर्वांश में कोई भी परिस्थिति सुखमय तथा दुःखमय नहीं होती, अर्थात् उत्पन्न हुई प्रत्येक परिस्थिति आंशिक सुख तथा दुःख से युक्त है। आंशिक दुःख जब आंशिक सुख के प्रलोभन को सुख काल में ही नष्ट कर देता है, तब उसे दुःख का प्रभाव समझना चाहिए। दुःख के रहते हुए और यह जानते हुए कि आया हुआ आंशिक सुख किसी भी प्रकार नहीं रहेगा, सुख-भोग की रुचि तथा उसकी आशा रखना दुःख का भोग है। सुख-काल में भी सुख का त्याग

पुरुषार्थ से साध्य है। किन्तु दुःख के प्रभाव के बिना सर्वांश में दुःख का नाश किसी भी प्रकार साध्य नहीं है।

दुःख में सुख की आशा दुःख का भोग है। सुख में दुःख का दर्शन दुःख का प्रभाव है। भूख से पीड़ित प्राणी भोजन की आशा में सुख का अनुभव करने लगता है। यद्यपि सुख स्वरूप से नहीं होता, तथापि सुख-भोग की स्मृति उसे दुःख-काल में भी सुख का भास कराती है। उसी प्रकार सुख का भोग करते हुए सुख के न रहने की अनुभूति, सुख में ही दुःख का दर्शन कराती है, जिस प्रकार संयोग-काल में ही वियोग का भय होने लगता है। दुःख का प्रभाव सजगता और दुःख का भोग जड़ता प्रदान करता है। सजगता असावधानी को नष्ट करती है, क्योंकि वह चिन्मय जीवन की ओर अग्रसर करती है। जड़ता चिन्मय जीवन से विमुख कर मानव को सुख के प्रलोभन, दासता और आशा में आबद्ध करती है। जड़ता से चेतना की ओर अग्रसर होने के लिए दुःख के भोग का अन्त कर उसके प्रभाव को अपनाना अनिवार्य है।

अपने आप जाने वाला जो सुख है, उसके न रहने का अनुभव यदि सुख-काल में ही कर लिया जाय, तो बहुत ही सुगमता-पूर्वक दुःख के भोग का नाश और दुःख के प्रभाव की अभिव्यक्ति हो सकती है। सुख-काल में सुख के जाने की विस्मृति ने ही दुःख का आह्वान किया है। इस कारण सुख का भोग करते हुए कोई भी प्राणी किसी भी प्रकार से दुःख से बच ही नहीं सकता, यह निर्विवाद सत्य है। प्राकृतिक नियमानुसार कोई भी प्रतीति तथा भास स्वरूप से स्थिर नहीं है। उसकी

उत्पत्ति तथा विनाश का जो क्रम है, उससे ही स्थिरता का भास होता है। किन्तु सुख के आदि और अन्त में दुःख स्वभाव से उस समय तक रहता ही है, जब तक सुख में अथवा उसके भोग में आस्था है। आस्था प्राणी को उसके अस्तित्व का भास कराती है, जिसमें वह आस्था करता है।

जब तक सुख में आस्था रहेगी, तब तक सुख का अस्तित्व प्रतीत होगा। यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार उत्पन्न हुई प्रत्येक प्रतीति निरन्तर परिवर्तनशील है, तथापि सुखासक्ति सतत् परिवर्तन में भी स्थिरता का भास कराती है। सुख की स्थिरता का भास सुख में जीवन-बुद्धि उत्पन्न करता है, जिसके उत्पन्न होते ही सुख का महत्त्व बढ़ जाता है और फिर बेचारा प्राणी विवश होकर अपने आप जाने वाले सुख के पीछे दौड़ने लगता है, यद्यपि उसे पकड़ नहीं पाता। परन्तु अल्पकाल की समीपता की अनुभूति, न रहने वाले सुख से निराश नहीं होने देती। सुख की आशा सुख से भी अधिक मधुर प्रतीत होती है। उस मधुरिमा में आबद्ध प्राणी सुख-भोग के लिए बड़े-बड़े दुःखों को सहन करता है। उस पर भी सुख का भोग तथा उसकी आशा परिणाम में दुःख ही प्रदान करती है। इस दृष्टि से सुख में ही दुःख विद्यमान है और दुःख से ही सुख का भास होता है। सुख और दुःख दोनों की वास्तविकता के बोध में सुख की दासना तथा दुःख के भय का नाश है।

रस जीवन की माँग है और सुख तथा दुःख भोग है। भोग का परिणाम रोग तथा शोक है, जो किसी भी प्राणी को अभीष्ट नहीं है। सुख संकल्प-पूर्ति की एक दशा मात्र है और

कुछ नहीं। संकल्प शुद्ध हो अथवा अशुद्ध, लघु हो अथवा महान्, किन्तु संकल्प-पूर्ति का सुख समान ही है। इसी कारण शुभाशुभ प्रवृत्तियाँ सुख के भोगी में जीवित रहती हैं। यदि संकल्प-पूर्ति के अतिरिक्त सुख का कोई और अस्तित्व होता, तो शुभाशुभ प्रवृत्तियों का विभाजन स्वतः हो जाता। इतना ही नहीं, उत्पन्न हुई अशुभ प्रवृत्तियाँ नष्ट हो जातीं और पुनः उत्पन्न न होतीं। जीवन में केवल शुभ प्रवृत्तियाँ रह जातीं। परन्तु बेचारा सुख का भोगी सर्वांश में न अशुभ प्रवृत्तियों का नाश ही कर पाता है और न शुभ प्रवृत्तियों की दासता से ही मुक्त हो पाता है। प्रवृत्ति रहते हुए रस के साम्राज्य में प्रवेश ही नहीं होता। इस दृष्टि से सुख और रस में बड़ा भेद है। इतना ही नहीं, रस की अनेक श्रेणियाँ हैं। परन्तु सुख में कोई श्रेणी नहीं है।

परिस्थिति-भेद से बेचारा प्राणी केवल अनुमान करता है कि अमुक व्यक्ति विशेष सुखी है। विशेषता और न्यूनता परिस्थितियों के बाह्य स्वरूप में है। सुख का भास वास्तव में परिस्थिति-जन्य नहीं है, केवल संकल्प-पूर्तिजन्य है। सभी संकल्पों की पूर्ति किसी भी प्रकार किसी भी परिस्थिति में सम्भव नहीं है। तो फिर सुख के अस्तित्व को स्वीकार करना कहाँ तक युक्तियुक्त है ? अस्तित्वहीन आभास मात्र सुख के पीछे दौड़ना रस से विमुख होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। न चाहने पर भी बार-बार दुःख का प्रादुर्भाव मगलमय विधान से सुख की दासता का नाश करने के लिए ही मानव के जीवन में होता है। पर बेचारा प्राणी प्रमादवश आये हुए दुःख से भयभीत और जाने वाले सुख की दासता में आबद्ध होकर नित-नवरस से, जो जीवन की वास्तविक माँग है, वंचित

रह जाता है; यद्यपि रस की माँग नष्ट नहीं होती, दब जाती है और फिर नीरसता मानव को सुख का भिखारी बना देती है। नीरसता का अन्त वर्तमान में सम्भव है; किन्तु सुख का सम्पादन भविष्य की आशा पर ही निर्भर रहता है। भविष्य की आशा वर्तमान की वास्तविक व्यथा को शिथिल बनाती है।

व्यथा की शिथिलता में सजगता नहीं रहती। उसके बिना सुख और रस का भेद स्पष्ट नहीं होता। उसके बिना हुए न तो रस की मांग ही सर्वांश में जागृत होती है और न सुख की आशा का ही अन्त होता है। सुख के सम्पादन के लिए श्रम, संग्रह, पराधीनता एवं जड़ता आदि दोष अपेक्षित हैं, किन्तु अगाध, अनन्त, नित-नवरस के प्रादुर्भाव के लिए केवल विश्राम, स्वाधीनता तथा प्रेम की जागृति अपेक्षित है। दुःख का प्रभाव अत्यन्त सुगमतापूर्वक मानव को विश्राम, स्वाधीनता तथा प्रेम का अधिकारी बना देता है। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं, जिन्होंने आये हुये दुःख का आदरपूर्वक स्वागत किया है और गये हुए सुख को धीरजपूर्वक विदाई दी है। दोष-जनित सुख दोषों को बनाये रखने पर भी सुरक्षित नहीं रहता, अर्थात् कोई भी प्राणी सदैव दोषी होकर भी सुख का भोग नहीं कर सकता। आया हुआ सुख चला जाता है और उसका भोगी बेचारा दोषी बनकर ही रह जाता है। यद्यपि अपने को सदा के लिए सर्वांश में दोषी बनाये रखना किसी को भी अभीष्ट नहीं है, तथापि सुख की दासता से वह अपने में अपराधी भाव स्वीकार कर निर्दोषता से निराश हो जाता है। इस कारण सुख-भोग का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। सुख

का आना और जाना तभी उपयोगी तथा हितकर सिद्ध होते हैं, जब मानव सुख का भोगी न होकर, उसकी वास्तविकता का अनुभव कर, आये हुए सुख द्वारा सेवा परायण हो जाय। सेवा-सामग्री का भोगी हो जाना, मानवता से पशुता की ओर अग्रसर होना है।

दुःख का प्रभाव पशुता का अन्त कर सोई हुई मानवता जगाने में समर्थ है। यह तभी सम्भव होगा जब मानव यह स्वीकार करे कि आया हुआ सुख अपने लिए नहीं है, अपितु दुखियों की धरोहर है। सुख-दुःख-युक्त परिस्थिति में-से जब सुखांश सेवा में व्यय हो जाता है, तब मंगलमय विधान से केवल दुःख दुःखी को उस जीवन से अभिन्न कर देता है, जो सुख-दुःख से अतीत दिव्य और चिन्मय है, जिसमें जड़ता, पराधीनता तथा अभाव की गन्ध भी नहीं है और जो अकर्त्तव्य, असाधन एवं आसक्तियों से रहित है।

कामना-पूर्ति और आपूर्ति की परिस्थितियों से तादात्म्य स्वीकार करना अपने को सुख की दासता तथा दुःख के भय में आबद्ध करना है। इस कारण कामना-पूर्ति अपूर्ति में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना प्रमाद ही है। प्रमाद के रहते हुए न तो सुख की दासता का नाश होता है और न दुःख के भय का ही अन्त होता है। दुःख का भय दुःख से भी अधिक दुःखद है। दुःख का भय दुःखी के जीवन में असावधानी उत्पन्न कर देता है, जो उसके लिए सर्वदा अहितकर है। इस दृष्टि से दुःख से भयभीत होना भारी भूल है। इस भूल का अन्त करना मानव मात्र के लिए अनिवार्य है।

दुःख आने पर यदि बेचारा दुखी दुःख से भयभीत न हो, तो सावधानी सुरक्षित रहती है, जिसके रहने से प्रत्येक परिस्थिति के सदुपयोग की सामर्थ्य साधक में स्वत आ जाती है। परिस्थितियों का सदुपयोग उनसे असंगता प्रदान करने में समर्थ है। असंगता विषमता का अन्त कर समता से अभिन्न करने में हेतु है। समता के साम्राज्य में दीनता तथा अभिमान की गंध भी नहीं है। दीनता तथा अभिमान का अन्त होते ही परिच्छिन्नता स्वतः नाश हो जाती है और फिर सुख-दुःख से अतीत के जीवन से एकता हो जाती है। इस दृष्टि से असंगतापूर्वक समता से अभिन्न होना अनिवार्य है।

असंगता किसी भी अभ्यास से साध्य नहीं है; कारण कि अभ्यास उन वस्तुओं से तादात्म्य करा देता है, जिनसे साधक को असंग होना है। दुःख का प्रभाव परिस्थितियों के महत्व का नाश कर साधक को परिस्थितियों से असंग होने का अधिकारी बना देता है, यह अनन्त का मंगलमय विधान है।

प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य और योग्यता के अभिमान का अन्त हुए बिना विकास सम्भव नहीं है। दुःख का प्रभाव निरभिमानता का प्रतीक है और दुःख का भोग दीनता में आबद्ध करता है। दीनता के नाश के लिए अभिमान का नाश अनिवार्य है। इस दृष्टि से आये हुए दुःख का भोगी नहीं होना है, अपितु उसके प्रभाव को अपनाना है। यह तभी सम्भव होगा, जब अपने आप आये हुए सुख-दुःख में जीवन-बुद्धि न रहे। सुख-दुःख में जीवन-बुद्धि का अन्त करने के लिए

कामना-पूर्ति के प्रलोभन का त्याग आवश्यक है। कामना-पूर्ति का प्रलोभन कामना-पूर्ति में हेतु नहीं है।

इस कारण मानव-जीवन में उसका कोई स्थान ही नहीं है। कामना-पूर्ति का प्रलोभन कामना-अपूर्ति से उत्पन्न हुए दुःख के भय में आवद्ध करता है। दुःख के भय से दुःख मिट नहीं जाता, अपितु दुःखी को कर्त्तव्य से च्युत कर कर देता है। अतएव शीघ्रातिशीघ्र कामना-पूर्ति के प्रलोभन से मुक्त होना अनिवार्य है। सुख-लोलुपता और सुख का प्रलोभन एवं सुख की दासता दुःख के भय को उत्पन्न करते हैं। दुःख का प्रभाव सुख-लोलुपता आदि का नाश करने में समर्थ है। सुख का भोगी दुःखी से भयभीत होता है और वह दुःखी, जिसने सुख कीवास्तविकता का अनुभव किया है, दुःख के प्रभाव से प्रभावित हो, दुःख का अन्त करने में समर्थ होता है।

सुख की मधुरिमा भयंकर विष के तुल्य है। इतना ही नहीं, विष के सेवन से तो एक ही बार प्राणान्त होता है, किन्तु बेचारे सुख के भोगी को तो अनेक बार जन्म-मरण की असह्य व्यथा सहनी पड़ती है। अपमान तथा पराधीनता तो उसे पगपग पर पीड़ित करती है। फिर भी सुख के प्रलोभन का सर्वांश में त्याग न करना कितनी भारी भूल तथा आश्चर्य की बात है। इस भयंकर भूल का अंत शीघ्रातिशीघ्र अर्थात् वर्तमान में ही करना अनिवार्य है। सुख के प्रलोभन-मात्र से सुख की उपलब्धि नहीं होती, कारण कि प्रत्येक परिस्थिति की प्राप्ति विधान के अधीन है, कामना के नहीं। सुख-भोग की रुचि प्रमाद की प्रथम प्रतिक्रिया है। अतएव प्रमाद के

नाश में ही उसका नाश है। दुःख का प्रभाव प्रमादी में-से सुख-भोग-जनित जड़ता का नाश कर देता है, जिसके होते ही सर्वांश में प्रमादी प्रमाद से मुक्त हो जाता है, जो विकास का मूल है।

दुःख का भोगी सुखमय परिस्थिति की उपलब्धि मात्र से अपने में झूठा संतोष कर लेता है। किन्तु प्राकृतिक नियमानुसार सुख के भोगी को विवश होकर भयंकर दुःख भोगना ही पड़ता है। दुःख के भोगी में बीज रूप से सुख की दासता रहती है। इस कारण वह बेचारा सुख की प्रतीति मात्र से अपने में झूठा संतोष करने का प्रयास करता है और सुख-भोग-जनित पराधीनता तथा अपमान की व्यथा भूल जाता है। सीमित बल, योग्यता एवं गुणों की महत्ता में आबद्ध होने के कारण वास्तविकता की विस्मृति उसे दुःख के प्रभाव से प्रभावित नहीं होने देती। दुःख के भोगी में त्याग का बल नहीं रहता। दुःख के प्रभाव में ही त्याग का बल निहित है। दुःख के भोगी में क्रोध है, त्याग नहीं। कभी-कभी दुःख का भोगी अपने शरीर तक का नाश कर देता है, पर देहाभिमान का त्याग नहीं कर पाता। प्रिय-से-प्रिय वस्तुओं को ठुकरा देता है, पर वस्तुओं की सत्यता और ममता से मुक्त नहीं होता। इतना ही नहीं, वह अपने को भयंकर परिस्थितियों में डाल देता है; किन्तु प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं करता। उदारता, त्याग, क्षमाशीलता आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति राग तथा क्रोध-रहित होने में ही है। राग तथा क्रोध का अत्यन्त अभाव दुःख के प्रभाव से जागृत विचार में ही निहित है।

दुःख का भोग प्राणी को शक्तिहीन बनाता है और दुःख का प्रभाव सामर्थ्य प्रदान करता है। दीनता तथा अभिमान की अग्नि बेचारे दुःख के भोगी को दग्ध करती रहती है। दुःख का प्रभाव अभिमान का अन्त कर दुःखी को दीनता से मुक्त कर देता है। दुःख को सहन करना दुःख भोग का सुन्दर रूप है। किन्तु दुख के कारण की खोज न करना दुःख-भोग को सुरक्षित रखना है। सहनशीलता असह्य वेदना का शिथिल बनाती है और असहनशीलता क्षुब्ध करती है। क्षुब्ध होने से भी सर्वांश में दुःख का प्रवाह नहीं होता, अपितु दुःख का भोग ही होने लगता है। इस कारण सहनशीलता दोनों से भिन्न दुःख के प्रभाव को अपनाना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब दुःख का भोगी अपने में छिपी हुई सुख की दासता का स्पष्ट दर्शन करे। सुख की दासता के ज्ञान में ही उसका नाश निहित है।

सुख की दासता ही दुःखी को दुःख-भोग के लिए जीवित रखती है। उसका नाश होते ही दुःखी दुःख के प्रभाव से प्रभावित होकर सदा के लिए दुःख से छूट जाता है। अथवा यों कहो कि उसका जीवन दुःखहारी की प्रीति हो जाता है। दुःख से छूटते ही दुःखी का अस्तित्व वास्तविक जीवन से अभिन्न हो जाता है। दुःख-भोग के आश्रित ही दुःखी में परिच्छिन्नता रहती है, जो अनेक प्रकार की भिन्नता को उत्पन्न करती है। भिन्नता काम की जननी है और कामना की अपूर्ति से ही दुःख का भोग आरम्भ होता है। इस दृष्टि से भिन्नता का अन्त करने के लिए परिच्छिन्नता का नाश अनिवार्य है। परिच्छिन्नता का नाश सुख की दासता तथा दुःख के भय से रहित होने में ही है।

सुख की दासता के रहते हुए दुःख का भय नष्ट नहीं होता। सुख की वास्तविकता का बोध बिना हुए सुख की दासता नष्ट नहीं होती। साधन रूप सुख-भोग तथा उसके परिणाम पर अविचल आस्था एवं दृष्टि रखने से ही सुख की वास्तविकता का स्पष्ट बोध होगा, जिसके होते ही सुख की दासता स्वतः गल जायगी, जो दुःख के भय से मुक्त कर दुःख के प्रभाव से प्रभावित करने में समर्थ है। सर्वांश में दुःख की निवृत्ति दुःख के प्रभाव में ही निहित है। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं, जिन्होंने सुख में जड़ता, पराधीनता आदि दोषों का स्पष्ट दर्शन किया है। सुख का भोग सुखी की चेतना का अपहरण कर लेता है तथा अपने आप आने वाला दुःख पुनः चेतना प्रदान कर सुख के भोगी को सजग कर देता है। इस दृष्टि से दुःख बड़े ही महत्व की वस्तु है। किन्तु दुःख का भोग तथा भय विकास में बाधक है।

दुःख का भोगी दुःख के भय से किसी भी प्रकार दुःख का अन्त नहीं कर सकता। दुःख के प्रभाव में ही दुःख का अन्त निहित है। जीवन की वास्तविक माँग से निराश होने पर दुःख का प्रभाव दुःख के भोग में परिवर्तित हो जाता है। मंगलमय विधान से दुःख जीवन को वास्तविक माँग की जिज्ञासा जागृत करने के लिए ही आता है। जिज्ञासा की जागृति सुख-भोग की रुचि का नाश कर देती है, जिसके होते ही आये हुए दुःख का प्रभाव स्वतः हो जाता है और फिर दुःखी बहुत ही सुगमतापूर्वक दुःख से रहित हो, वास्तविक जीवन से अभिन्न हो जाता है।

प्राकृतिक नियमानुसार अपने आप आये हुए दुःख में मन

बहला कर उसे दबाने का उपाय भयंकर भूल है। दु:ख दबाने से मिटता नहीं है, अपितु उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। इस कारण दु ख का दबाना सभी के लिए सर्वदा अहितकर ही सिद्ध होता है। आये हुए दु:ख का प्रभाव सर्वांश में तभी सम्भव होगा, जब दु:खो दु:ख दबाने के लिए अपने को कामना-पूर्ति के सुख में आबद्ध न करे, क्योंकि प्रत्येक कामनापूर्ति का सुख नवीन कामनाओं का जन्मदाता है। परन्तु बेचारा मानव यह भूल जाता है कि कामना-पूर्ति से आया हुआ सुख भी पराधीन बनाकर चला जायगा। इसके अतिरिक्त यह निर्विवाद सिद्ध है कि 'सभी कामनाएँ कभी किसी की पूरी नहीं होतीं।' अन्त में कामना-अपूर्ति का दु:ख ही शेष रहता है। तो फिर कामना-पूर्ति के सुख से आये हुए दु:ख को दबाना कुछ अर्थ नहीं रखता, अपितु दु:ख के दबाने के प्रयास से प्राप्त सामर्थ्य का दुर्व्यय ही सिद्ध होता है।

यदि वैधानिक रूप से भी कामना-पूर्ति का सुख आ जाय, तो भी मानव को सावधानीपूर्वक उसका सद्व्यय कर अपने को सुख-भोग से विमुख कर, आये हुए दु:ख के प्रभाव से प्रभावित होना चाहिए। तभी सर्वांश में सदा के लिए दु:ख का नाश हो सकता है। बेचारा दु:ख का भोगी आये हुए दु:ख का कारण दूसरों को मान लेता है। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि वह दु:ख के मूल हेतु की खोज ही नहीं कर पाता, अपितु क्षुभित तथा क्रोधित होकर अपने को असमर्थ बना लेता है, कर्तव्य से च्युत हो जाता है और वास्तविक जीवन की विस्मृति हो जाती है, जो विनाश का मूल है। जब मानव अपने दु:ख का कारण किसी और को नहीं मानता, तब उसे

दुःख के कारण का बोध हो जाता है और दुःख के सदुपयोग को सामर्थ्य स्वतः आती है, जो विकास का मूल है।

दुःख का भोगी दुःख के भय से भयभीत होकर भिन्न-भिन्न प्रकार के अप्राकृतिक उपायों द्वारा दुःख को दबाने का प्रयास करता है, परन्तु परिणाम में उत्तरोत्तर दुःखों की वृद्धि होती रहती है। इतना ही नहीं, वह वास्तविकता से निराश होने लगता है। उसमें सुख-भोग की तीव्र भूख उत्पन्न हो जाती है, जो उसे अकर्त्तव्य में प्रवृत्त करा देती है। सुख के भिखारी में चेतना नहीं रहती। वह दूसरों को दुःख दे-देकर सुख भोगने का अभ्यासी हो जाता है, जो कर्त्तव्य-विज्ञान के सर्वथा विपरीत है अर्थात् उसके स्वभाव में अकर्त्तव्य की ही प्रवृत्ति बढ़ती रहती है, जिससे उसका जीवन समाज के लिए अहितकर ही सिद्ध होता है। इस दृष्टि से अप्राकृतिक ढङ्ग से दुःख का दबाना सर्वथा त्याज्य है।

तीव्र दुःख का होना दुःखी के लिए अहितकर नहीं है, अपितु सर्वदा हितकर ही है। दुःख आने पर हार स्वीकार करना भी दुःखी के विकास में बाधक है। दुःख दुखी की सोई हुई सामर्थ्य को जगाता है और जड़ता का अपहरण कर सजगता प्रदान करता है। इतना ही नहीं, दुःख मिली हुई सामर्थ्य के अभिमान का नाश कर उसके सदुपयोग में प्रवृत्त कराता है। सामर्थ्य का सद्व्यय आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति में हेतु है। इस दृष्टि से दुःख का प्रभाव असमर्थता का अन्त कर साधक को अकर्त्तव्य, असाधन और आसक्तियों से मुक्त कर देता है, जिससे उसका सर्वतोमुखी विकास स्वतः हो जाता है।

यदि साधक दुःख के प्रभाव से प्रभावित होकर असंगता-पूर्वक स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश नहीं पा सकता, तो अन्य किसी प्रकार स्वाधीनता प्राप्त करना सम्भव नहीं है। कारण कि दुःख का प्रभाव ही सुख-भोग की रुचि का नाश कर पराधीनता से मुक्त करने में समर्थ है। बेचारा दुःख का भोगी सुख-भोग की रुचि से रहित नहीं होता, इस कारण दुःख आने पर भी दुःख का सदुपयोग नहीं कर पाता। जिस मंगलमय विधान से दुःख आया है, उसने दण्ड नहीं दिया है, अपितु मानव के हित के लिए दुःख का प्रादुर्भाव किया है। विधान उस अनन्त का प्रकाश है, जो सभी का परम सुहृद है। अतएव दुःख भोगने के लिए दुःख नहीं दिया गया है। दुःख सुख की दासता से मुक्त करने के लिए आया है। दुःख से डरो मत, अपितु उसका आदरपूर्वक स्वागत करते हुए अपने पर उसका प्रभाव होने दो। दुःख के भोगी मत बनो। यह तभी सम्भव होगा, जब निर्विवाद रूप से विकल्प रहित हो यह स्वीकार करोगे कि आये हुए दुःख के प्रभाव में ही अपना परम हित है।

जब साधक दुःख से भयभीत नहीं होता और दुःख आने पर सुख का आह्वान नहीं करता, तब उस पर आये हुए दुःख का प्रभाव स्वतः होने लगता है, जिसके होते ही, दुःख में दुःख के दर्शन की तो कौन कहे, सुख में भी दुःख का दर्शन होता है। फिर सुख का प्रलोभन, सुख-भोग की रुचि और उसकी आशा शेष नहीं रहती। इनके मिटते ही अपने आप उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों से असंगता आ जाती है, जो पराधीनता का अन्त कर स्वाधीनता से अभिन्न करने में समर्थ है।

जब तक साधक सुख के महत्व में आबद्ध रहता है, तब तक दुःख से भयभीत होता है और जब तक दुःख से भयभीत रहता है, तब तक सुख का आह्वान करता रहता है। यद्यपि आह्वान करने मात्र से सुख मिल नहीं जाता, परन्तु फिर भी बेचारा सुख का भिखारी सुख के चिन्तन में ही लगा रहता है और यह भूल जाता है कि जब आया हुआ सुख भी अपने आप चला गया तो अप्राप्त सुख की आशा से क्या लाभ होगा ? सुख माँगने से नहीं मिलता, विधान से अपने आप आता-जाता है। उसके लिए प्रयास प्राप्त सामर्थ्य का दुर्व्यय ही है और कुछ नहीं। दुःख का प्रभाव होने पर प्राप्त सुख का सद्व्यय हो जाता है और अप्राप्त सुख की कामना नहीं रहती। प्राप्त सुख के सद्व्यय से ही मानव समाज के ऋण से मुक्त होता है। अप्राप्त सुख की कामना के त्याग से साधक विश्राम पाता है। इस दृष्टि से प्राप्त सुख के सद्व्यय में पर-हित और उसकी कामना के नाश में अपना हित है। सुख जैसी वस्तु का संग्रह करना, उसका दास होना, उसका भोगी होना, किसी के भी लिए हितकर नहीं है।

प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक सुख के आदि और अन्त में दुःख का प्रादुर्भाव स्वतः होता है। परन्तु बेचारा सुख का भोगी उस पर दृष्टि नहीं रखता। यह देखता ही नहीं कि सुख के आदि और अन्त में दुःख है। इतना ही नहीं, दुःख का भास होते ही वह सुख की प्राप्ति के लिए प्रयास करने लगता है। यद्यपि सुख आते ही उसके जाने का क्रम आरम्भ हो जाता है, तथापि प्राणी प्रमादवश उसमें स्थिरता मान लेता है। किन्तु विधान के अनुसार सुख में अल्पकाल के लिए भी

स्थिरता नहीं है, सतत् परिवर्तन होता रहता है। यदि इस पर दृष्टि रहे तो सुख का स्वतन्त्र अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता। जिसका स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं है, उसमें जीवन-बुद्धि स्वीकार करना भारी भूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

दुःख में सुख की प्राप्ति का प्रयास और सुख के अस्तित्व को स्वीकार कर उसमें जीवन-बुद्धि रखना अपने को आये हुए दुःख के प्रभाव से विमुख करना है, जो विनाश का मूल है। साधक के पुरुषार्थ की पूर्णता दुःख के प्रभाव में ही है। जब तक दुःख का प्रभाव नहीं होता, तब तक सर्वतोमुखी विकास सम्भव नहीं है। आई हुई अनुकुलता नहीं रहेगी। उसका उपयोग पर-सेवा में करना, दुःख के प्रभाव को जीवित रखना है, किन्तु 'अनुकूलता अपने लिए है' यह प्रमाद दुःख का प्रभाव नहीं होने देता। दुःख का प्रभाव ही दुःख की निवृत्ति में हेतु है। इस महामन्त्र को अपनाना मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है। दुःख के प्रभाव के अतिरिक्त सर्वांश में दुःख की निवृत्ति कभी भी सम्भव नहीं है। ऐसे महत्वपूर्ण दुःख के प्रभाव से अपने को वंचित रखना, अपने द्वारा ही अपना सर्व-नाश करना है।

दुःख का प्रभाव सुख के प्रलोभन का नाशक है, सुख का नहीं। प्राकृतिक नियमानुसार सुख अपने आप जाता है और दुःख न चाहते हुए भी आता है। इस रहस्य पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि सुख को बनाये रखने की अभिरुचि कुछ अर्थ नहीं रखती और दुःख से भयभीत होना भी निरर्थक ही प्रतीत होता है, क्योंकि जो जायेगा ही'

उसको बनाये रखने की बात और ज आयेगा ही, उससे क्षुभित होने की बात अपनी भूल ही है, और कुछ नहीं। सुख का प्रलोभन भोग की रुचि को जीवित रखता है। भोग की रुचि नित्ययोग से विमुख करती है।

इस दृष्टि से सुख का प्रलोभन साधक के विकास में बाधक है। शोग-प्रवृत्ति भोग की वास्तविकता का बोध कराने में भले ही सहयोगी सिद्ध हो, किन्तु भोग की रुचि तो केवल भोग की दासता को ही जीवित रखती है। भोग की दासता भोग से भी कहीं अधिक दुःखद है, कारण कि भोग के अन्त में भोगी असमर्थता अभाव, पराधीनता आदि की व्यथा से व्यथित होता है, जो भोगातीत जीवन की लालसा को सबल वनाती है। भोगातीत जीवन की उत्कट लालसा भोग वासनाओं का अन्त करने में समर्थ है। परन्तु सुख का प्रलोभन रहते हुए सर्वांश में सुख-भोग की रुचि का नाश सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से दुःख के प्रभाव से सुख के प्रलोभन का समूल नाश करना अनिवार्य है।

देहाभिमान से उत्पन्न हुए संकल्पों की पूर्ति में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना ही सुख के प्रलोभन को पोषित करना है, अथवा यों कहो कि दुःख के प्रभाव से मुक्त होना है। प्राकृतिक नियमानुसार, प्रत्येक सुख के भोगी को दुःख तो भोगना ही पड़ता है, परन्तु कामना-पूर्ति में ही जीवन-बुद्धि बनाये रखने से बेचारा दुःखी दुःख के प्रभाव से वंचित रह जाता है। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि दुःखी दुःख में भी सुख की ही आशा करता है और दुःख भोगता रहता है।

मंगलमय विधान से जो दुःख दुःखी को दुःखहारी से अभिन्न होने के लिए मिला था, यह दुःखी का प्रमाद है कि वह उस दुःख के प्रभाव को न अपना कर सुख की आशा से सुख की दासता में आबद्ध होकर दुःख भोगता रहता है। वह दुःख के प्रभाव को न अपनाकर सुख की आशा में दुःख भोगता है। सर्वांश में सुख की आशा का अन्त करते ही प्रत्येक दुःखी स्वतः दुःख से रहित हो जाता है। सुख की आशा का नाश दुःख के प्रभाव में ही निहित है।

प्रत्येक मानव को कामना-पूर्ति तथा अपूर्ति में सुख और दुःख का भास होता है। कामनाओं का उद्‌गम-स्थान देहाभिमान है, जो अविवेक-सिद्ध है। अविवेक का अन्त निज-विवेक के आदर में निहित है। विवेक का प्रकाश मानव मात्र को स्वतः प्राप्त है। जिस प्रकार अन्धकार और प्रकाश एक ही काल में नहीं रहते, उसी प्रकार निज-विवेक का आदर और अविवेक एक काल में नहीं रहते। अविवेक का अन्त होते ही देहाभिमान स्वतः गल जाता है, जिसके गलते ही निर्वासना अपने आप आ जाती है और फिर सुख-दुःख से अतीत के जीवन से स्वतः अभिन्नता हो जाती है। निज-विवेक का अनादर एकमात्र सुख-लोलुपता से ही होता है। दुःख का प्रभाव सुख-लोलुपता को खाकर प्राप्त विवेक का आदर कराने में समर्थ है। कामना-पूर्ति में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना अपने को सुख की दासता में आबद्ध रखना है। वास्तविक माँग के प्रमाद में ही सुख की दासता पोषित होती है। सुख की दासता ही दुःख के भय को उत्पन्न करती है।

सुख की दासता और दुःख का भय,यह द्वन्द्वात्मक स्थिति मानव को पराधीनता तथा असमर्थता में आबद्ध करती है, जो किसी को भी स्वभाव से अभीष्ट नहीं है। जो अभीष्ट नहीं है, वह जीवन नहीं है। अतः "जीवन क्या है ?" यह प्रश्न स्वतः जागृत होता है। इस मूल प्रश्न के हल हुए बिना चैन से रहना असावधानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्राकृतिक नियमानुसार जब अनेक प्रश्न एक ही प्रश्न में विलीन हो जाते हैं; तब उसके समाधान की सामर्थ्य अपने आप आ जाती है। इस दृष्टि से अपनी माँग का प्रमाद ही दुर्गति का मूल है। प्राणी जितनी सजगता शरीर के बनाये रखने में तथा कामना-पूर्ति के सुख-भोग में एवं कामना-अपूर्ति के दुःख से बचने में रखता है, यदि उतनी सावधानी "जीवन का मूल प्रश्न क्या है ?" इस समस्या को हल करने में रखे, तो बहुत ही सुगमतापूर्वक वह अपनी वास्तविक माँग को जान सकता है।

यह सभी का दैनिक अनुभव है कि उत्पन्न हुई सभी कामनायें पूरी नहीं होतीं। इतना ही नहीं, प्रत्येक कामना-पूर्ति का सुख-भोग नवीन कामना को जन्म देता है। परिणाम में कामना-अपूर्ति का दुःख ही शेष रहता है। फिर भी कामना पूर्ति में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार करना और अपनी वास्तविक माँग से अपरिचित रहना क्या साधक की भारी भूल नहीं है ? इस भूल का अन्त करना सभी साधकों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह सभी विचारकों का अनुभव है कि भूल को भूल जानते ही भूल नहीं रहती।

माँग उसे नहीं कहते, जिसकी पूर्ति अनिवार्य नहीं हो। इस दृष्टि से कामना-पूर्ति माँग नहीं हो सकती। कारण कि सभी कामनाएँ पूरी नहीं होती। इस अनुभूति का आदर करते ही कामना-पूर्ति एक अवस्था विशेष के अतिरिक्त और कुछ अर्थ नहीं रखती।

प्रत्येक अवस्था स्वरूप से ही परिवर्तनशील है। इस कारण किसी भी अवस्था में आबद्ध होना अभाव में ही आबद्ध होना है। अभाव जीवन नहीं हो सकता। अतः उत्पन्न हुई अवस्था जीवन नहीं है। जो जीवन नहीं है, उससे असंग तथा विमुख होना अनिवार्य है। वस्तु, अवस्था तथा परिस्थितियों की विमुखता से यह मूल प्रश्न सजीव होता कि "वास्तविक जीवन की माँग क्या है ?" सजीव प्रश्न वर्तमान का प्रश्न है। अतः जब तक यह निर्णय न हो जाय कि हमारी वास्तविक माँग क्या है, तब तक किसी अन्य प्रश्न की उत्पत्ति ही नहीं होनी चाहिए। कारण कि वर्तमान प्रश्न एक ही हो सकता है, दो नहीं। जब एक ही प्रश्न रह जाता है, तब प्रश्नकर्त्ता और प्रश्न में भेद नहीं रहता, अर्थात् प्रश्न ही प्रश्नकर्त्ता का अस्तित्व रह जाता है। वही जीवन की मांग है। उस माँग के प्रमाद ने ही प्राणी को सुख की दासता और दुःख के भय में आबद्ध किया है।

सुख-दुःख दिन रात के समान हैं, अपने आप आने-जाने वाले हैं। परन्तु सुख की दासता और दुःख का भय अपना बनाया हुआ दोष है, जिसका अन्त करना अनिवार्य है। अपना बनाया हुआ दोष अपने आप नष्ट नहीं होता और न किसी

अन्य के द्वारा नाश होना सम्भव है। उसके नाश का दायित्व अपने पर ही है, जिसके मिटाने की सामर्थ्य मंगलमय विधान से स्वतः प्राप्त है। न तो हम आये हुए सुख को सुरक्षित रख सकते हैं और न आये हुए दुःख को मिटा सकते हैं। इसमें हम स्वाधीन नहीं हैं किन्तु सुख की दासता और दुःख के भय का त्याग कर सकते हैं। कारण कि जिसे रोक नहीं सकते, उसके भय का और जिसे सुरक्षित नहीं रख सकते उसकी दासता का त्याग ही कर सकते हैं। पर कब? जब साधक अपनी वास्तविक माँग से परिचित हो जाय। वास्तविक माँग के प्रमाद ने ही सुख-दुःख से तादात्म्य उत्पन्न कर दिया है, जो अविवेक-सिद्ध है। कामना जिसमें उत्पन्न होती है उसी में माँग की जागृति होती है। अन्तर केवल इतना है कि कामनाएँ अनेक और माँग एक है।

कामनाओं के रहते हुए कामना और जिसमें कामना उत्पन्न होती है, वे दोनों भिन्न भासते हैं, किन्तु जब वास्तविक माँग जागृत होती है, तब माँग और जिसमें माँग है, उसमें एकता अनुभव होती है। हम अपनी वास्तविक माँग से अपने को अलग नहीं कर सकते, यह निर्विवाद है। उत्पन्न हुई कामनाएँ वास्तविक माँग को अल्पकाल के लिए आच्छादित भले ही कर दें, मिटा नहीं सकतीं। किन्तु सर्वांश में वास्तविक माँग की जागृति होने पर सभी कामनाएँ उसी प्रकार नष्ट हो जाती हैं, जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अन्धकार।

यह सभी साधकों की अनुभूति है कि आया हुआ दुःख स्वभाव से प्रिय नहीं होता और हम उसे रोक भी नहीं पाते।

इस वस्तुस्थिति पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि दुःख जीवन का आवश्यक अंग है। उस आये हुए दुःख का प्रभाव ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों सुख के प्रलोभन से उत्पन्न हुई कामनाएँ अपने आप मिटती जाती हैं। ज्यों-ज्यों कामनाएँ मिटती जाती हैं, त्यों-त्यों वास्तविक माँग का प्रादुर्भाव अपने आप होता जाता है। इस दृष्टि से दुःख के प्रभाव में ही कामनाओं की निवृत्ति और वास्तविक माँग की जागृति निहित है। परन्तु जब तक साधक वास्तविक मांग से अभिन्न नहीं हो जाता, तब तक न तो दुःख का प्रभाव ही पूर्णरूपेण होता है और न कामनाओं की निवृत्ति ही। दुःख के प्रभाव से माँग की जागृति और माँग की जागृति से दुःख का प्रभाव सजीव हो जाता है। जिस साधक को जो सुलभ हो, उसे आरम्भ में उसी को अपनाना है– दुःख के प्रभाव से माँग की जागृति को और माँग की जागृति से दुःख के प्रभाव की सजीवता को।

कितने आश्चर्य की बात है कि दुःख है और उसका प्रभाव नहीं, और जिस माँग की पूर्ति वर्तमान में हो सकती है उसकी विस्मृति ! जब सभी कामनाएँ पूरी नहीं हो सकतीं, तो उनका प्रलोभन बनाये रखना कहाँ तक युक्ति-युक्त है ? निजअनुभव के अनादर के समान और कोई भारी भूल नहीं है। अपनी भूल का अन्त वर्तमान में करना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव है, जब साधक वास्तविक माँग की पूर्ति से निराश न हो और दुःख के प्रभाव द्वारा कामना-पूर्ति के प्रलोभन का अन्त कर दे।

दुःख का प्रादुर्भाव प्राकृतिक है, कारण कि न चाहते हुए भी वह सभी प्राणियों को मिलता है। जिसका प्रादुर्भाव प्राकृतिक है, वह किसी के लिए अहितकर नहीं है, अपितु हितकर ही है। किन्तु सुख की दासता दुःख के महत्व से अनभिज्ञ रखती है। चाहते हुए भी सुख तो चला ही जाता है, पर उसकी दासता शेषा रहती है, जिसके रहते हुए दुःख अपने आप आता ही है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि दुःख मंगलमय विधान से सुख की दासता का नाश करने के लिए आता है। दुःख के भय से तो सुख की दासता ही पोषित होती है, पर दुःख के प्रभाव से सुख की दासता सदा के लिए मिट जाती है।

सुख की दासता मिटाने पर भी विधान के अनुसार सुख आता है और जाता है। किन्तु दुःख का प्रभाव जब सुख की दासता को खा लेता है तब दुःख आह्वान करने पर भी नहीं आता, अर्थात् बेचारा दुःख साधकों को दुःख से रहित करने के लिए ही आता है। इस दृष्टि से दुःख बड़े ही महत्व की वस्तु है।

यह सभी विचारकों को मान्य है कि प्रत्येक परिस्थिति सुख तथा दुःख से युक्त है। परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि ही प्राणियों को सुख तथा दुःख का भोग कराती है। सुख रुचिकर और दुःख अरुचिकर प्रतीत होता है। पर सुख के भोगी को दुःख विवश होकर भोगना ही पड़ता है। सुख का भोग सुरक्षित रहे और दुःख का भोग न करना पड़े, यह किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। सुख-दुःख की श्रेणियों में भले ही अन्तर आ

जाये, पर सुख के भोगते हुए दुःख रहता ही है। इतना ही नहीं, ऐसा कोई सुख-भोग है ही नहीं, जिसके आदि और अन्त में दुःख न हो; जैसे भूख की व्यथा में ही भोजन का सुख, वियोग की व्यथा में ही संयोग का सुख इत्यादि। सुख-भोग का आरम्भ काल जितना मधुर और सुखद प्रतीत होता है, उतना अन्त नहीं।

प्राकृतिक नियमानुसार अपने आप धीरे-धीरे सुखानुभूति शिथिल होती जाती है और सुख-भोग की शक्ति का ह्रास तथा सुख-सामग्री का विनाश भी स्वतः होता जाता है। इसी कारण सुख-भोग के अन्त में भी दुःख ही शेष रहता है। इस दृष्टि से सुख-भोग में किसी-न-किसी प्रकार की हिंसा तथा पराधीनता एवं अन्त में अभाव ही अभाव रह जाता है। जब अभाव-जनित व्यथा सुख-भोग की रुचि को खा लेती है, तब अपने आप दुःख का प्रभाव हो जाता है, जिसके होते ही सुख-दुःख-युक्त परिस्थितियों से असंगता साधक को स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश करा देती है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

पराधीनता, हिंसा और अभाव किसी भी साधक को अभीष्ट नहीं है। इस दृष्टि से सुख-दुःख-युक्त परिस्थितियों से अतीत के जीवन की माँग स्वाभाविक है। दुःख का प्रभाव स्वाभाविक माँग को सबल तथा स्थायी करने में समर्थ है। उत्पन्न हुई परिस्थितियाँ बाह्य दृष्टि से भले ही भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतीत होती हों, किन्तु स्वरूप से सभी समान हैं। इससे यह भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि स्वाभाविक माँग की पूर्ति किसी परिस्थिति विशेष के आश्रित नहीं है। जिसकी

पूर्ति किसी परिस्थिति विशेष के आश्रित नहीं है, उसकी पूर्ति सभी परिस्थितियों में सम्भव है। इस दृष्टि से प्राप्त परिस्थिति का दुरुपयोग और अप्राप्त का आह्वान स्वाभाविक माँग की पूर्ति में बाधक ही है। जब साधक निज-विवेक के प्रकाश में यह स्वीकार कर लेता है कि प्राप्त परिस्थिति ही मेरे विकास में हेतु है, तब उसे प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग सुलभ हो जाता है, जिसके होते ही परिस्थितियों से स्वतः असंगता हो जाती है, जो विकास का मूल है।

अपने आप आये हुए सुख-दुःख का सदुपयोग ही परिस्थिति का सदुपयोग है। सुख का सदुपयोग उदारता में और दुःख का सदुपयोग त्याग में निहित है। उदारता का प्रादुर्भाव दुःखियों को देख करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न होने में ही है। दुःख का प्रभाव होते ही दुःखियों को देख करुणा और सुखियों को देख प्रसन्नता स्वतः होती है। ममतायुक्त करुणा और प्रसन्नता तो प्राणी-मात्र में स्वभाव से ही है, किन्तु ममता-रहित करुणा और प्रसन्नता साधकों में ही होती है। साधक वही हो सकता है, जिसने दुःख के प्रभाव को अपनाया है। पराधीनता की व्यथा में ही स्वाधीनता की और अभाव की पीड़ा में ही पूर्णता की माँग निहित है। पराधीनता और अभाव के रहते हुए चैन से रहना कहाँ तक न्याय-युक्त है? पराधीनता का नाश तथा अभाव का अभाव हो सकता है। जो हो सकता है, उससे निराश होना प्रमाद के अरिरिक्त और कुछ नहीं है। दुःख का प्रभाव पराधीनता तथा अभाव का अभाव करने के लिए साधक को आकुल-व्याकुल कर देता है। परम व्याकुलता की जागृति में ही समस्त निर्बलताओं का नाश निहित है। पर

इस रहस्य को वे ही साधक जान पाते हैं जो स्वाभाविक माँग की पूर्ति से निराश नहीं हैं, अपितु उसे वर्तमान की वस्तु मानते हैं।

पराधीनता का नाश तथा अभाव का अभाव किसी भी उत्पन्न हुई वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि से सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि अपने लिए नहीं हैं। जो अपने लिए नहीं है, उससे तादात्म्य और उसकी ममता पराधीनता तथा अभाव में ही आवद्ध करती है। दुःख का प्रभाव न तो उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था आदि से तादात्म्य ही रहने देता है और न ममता को ही जीवित रखता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो नित्य प्राप्त अविनाशी जीवन है, उससे अभिन्नता हो जाती है, जिसके होते ही पराधीनता का नाश तथा अभाव का अभाव स्वतः हो जाता है। इस दृष्टि से स्वाभाविक माँग की पूर्ति दुःख के प्रभाव में ही निहित है।

जो अपने लिए नहीं है, उसके द्वारा 'पर' के अधिकारों की रक्षा की जा सकती है। पर यह भी तभी सम्भव होगा, जब प्राणी पर-पीड़ा से करुणित हो जाये। पराये दुःख से जो दुःखी होते हैं, उनमें मिले हुए सुख-भोग की रुचि नहीं रहती और न अप्राप्त सुख की कामना ही रहती है, अपितु प्राप्त सुख के सद्व्यय की सामर्थ्य आ जाती है, जिसके आते ही सुन्दर समाज का निर्माण होने लगता है और समस्त संघर्षों का नाश हो जाता है। इससे परस्पर में एकता हो जाती है, जिसके होते ही साधक समता के साम्राज्य में प्रवेश पाता है, जो विकास का मूल है। मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि

की ममता के त्याग में ही कर्त्तव्यपरायणता निहित है और कर्त्तव्यपरायणता से ही आवश्यक वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता स्वतः प्राप्त होती है, किन्तु दुःख का प्रभाव मिले हुए से तादात्म्य नहीं होने देता। तादात्म्य का नाश होते ही निष्कामना और निर्वासना अपने आप आ जाती है। निष्कामता पराधीनता को और निर्वासना अभाव को खा लेती है, यह निर्विवाद सत्य है।

× × ×

मिले हुए को अपना मान लेना विवेक-विरोधी विश्वास है। इस विश्वास से ही विकारों की उत्पत्ति होती है। इस दृष्टि से निर्विकारता ममता के त्याग में ही निहित है। ममता का त्याग प्रत्येक साधक को स्वयं करना है, अपने आप नहीं होगा। कारण कि जाने हुए के आदर का दायित्व साधक पर ही है। जाने हुए के अनादर में ही ममता पोषित होती है। प्राकृतिक नियमानुसार जो अपना नहीं है, वह अपने लिए भी नहीं है। अतः जब साधक में प्राप्त की ममता नहीं रहती, तब अप्राप्त वस्तु आदि की कामना भी नहीं रहती। अप्राप्त वस्तु आदि की कामनाओं के नाश में ही चिरविश्राम निहित है। विश्राम सामर्थ्य तथा असंगता का स्रोत है, कारण कि सामर्थ्य की अभिव्यक्ति श्रम-साध्य नहीं है। श्रम से तो मिली हुई सामर्थ्य का सद्व्यय हो सकता है. अप्राप्त सामर्थ्य की अभिव्यक्ति नहीं होती। अतः आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति विश्राम से ही साध्य है। मिली हुई वस्तु, अवस्था, सामर्थ्य, योग्यता आदि से असंग होने के लिए भी विश्राम ही अपेक्षित है, कारण कि सभी प्रकार का श्रम वस्तु आदि के

आश्रय से ही होता है। जिससे असंग होना है, उसके आश्रय का त्याग अनिवार्य है। वस्तु आदि के आश्रय का त्याग श्रम-साध्य नहीं है, अपितु विश्राम से ही साध्य है। इस दृष्टि से सामर्थ्य की अभिव्यक्ति तथा असंगता विश्राम में ही निहित है।

दुःख के प्रभाव के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार निष्कामता से उदित विश्राम सम्भव नहीं है, कारण कि दुःख का प्रभाव साधक को काम-रहित करने में समर्थ है। भूल को भूल जान लेने पर भी सुख के प्रलोभन में आबद्ध प्राणी सर्वांश में भूल-रहित नहीं हो पाता। इतना ही नहीं, भूल के परिणाम से भयभीत होने पर भी भूल-जनित सुख का प्रलोभन नष्ट नहीं होता। परन्तु भूल-जनित व्यथा जागृत होने पर भूल स्वतः नष्ट हो जाती है। किसी बुराई के न करने मात्र से बुराई-जनित रस का नाश नहीं होता। इसी कारण बार-बार बुराई की पुनरावृत्ति होती रहती है। किन्तु जब बुराई होने की व्यथा ही साधक को व्यथित कर देती है, तब बुराई उत्पन्न ही नहीं होती। इस दृष्टि से दुःख के प्रभाव में ही समस्त विकारों की निवृत्ति निहित है, दुःख के भय तथा भोग में नहीं।

मिले हुए का सदुपयोग तथा जाने हुए का आदर साधक को आये हुए दुःख के प्रभाव से प्रभावित करता है। जो प्राणी जाने हुए का आदर तथा मिले हुए का सदुपयोग नहीं करते, वे आये हुए दुःख से भयभीत होते हैं और दुःख भोगते भी हैं, पर दुःख के प्रभाव से प्रभावित नहीं होते। कारण

कि मिले हुए का दुरुपयोग और जाने हुए का अनादर अपने में अपना विश्वास नहीं होने देता, जिसके बिना हुए साधक अपने सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से विचार नहीं कर सकता। अपने सम्बन्ध में निष्पक्ष भाव से विचार किये बिना अपनी दृष्टि में अपने दोषों का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता, जिसके हुए बिना न तो वर्तमान की निर्दोषता में ही आस्था होती है और न भूतकाल के दोषों से असंगता ही। निर्दोषता की विस्मृति और दोषों का तादात्म्य वेचारे प्राणी को निर्दोषता से अभिन्न नहीं होने देते। इस कारण आये हुए दुःख के प्रभाव से प्रभावित होने के लिए तथा अपने दायित्व को पूरा करने के लिए एवं स्वाभाविक माँग की पूर्ति के लिए मिले हुए का सदुपयोग तथा जाने हुए का आदर अनिवार्य है।

● ● ●

जो सुख तथा दुःख का भोगी है, उसे न तो "यह" कह सकते हैं और न "वह"। "यह" उसी को कहा जाता है, जिसकी प्रतीति इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से होती है। "वह" उसे कहते हैं, जिसे इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से नहीं देखा जाता, अपितु जिसको चर्चा तत्त्वज्ञों तथा भक्तों से सुनी है एवं सद्ग्रन्थों ने जिसके विषय में संकेत किया है। उसके सम्बन्ध मे आस्था, श्रद्धा एवं विश्वास ही किया जा सकता है।

जब "यह" और "वह" सुख-दुःख का भोगी नहीं है, तब प्रश्न यह स्वतः उत्पन्न होता है कि सुख-दुःख का भोगी कौन है ? इसके उत्तर में सहज भाव से यही स्वीकार करना पड़ता

है कि जो अपने को सुखी और दुःखी कहता है, वही सुख-दुःख का भोगी है। उसका नामकरण "अहम" अथवा "मैं" भी हो सकता है। उसी अहम्-भाव में सुख का प्रलोभन तथा दुःख का भय अंकित है, उसी में दुःख-निवृत्ति की माँग है, वही अमरत्व से अभिन्न होना चाहता है और उसी में अनन्त रस की भूख है। दुःख के प्रभाव से दुःख का भय और सुख का प्रलोभन मिट जाता है, जिसके मिटते ही दुःख-निवृत्ति तो हो ही जाती है, इसके अतिरिक्त अमरत्व की माँग तथा अनन्त-रस की भूख अपने आप तीव्र हो जाती है। अर्थात् उसके बिना रहना जब असह्य हो जाता है, तब मंगलमय विधान से स्वतः अमरत्व से अभिन्नता और अनन्त-रस की अभिव्यक्ति होती है।

जिसके विधान से अमरत्व से अभिन्नता और अनन्त-रस की अभिव्यक्ति होती है, उसमें आस्था, श्रद्धा तथा विश्वास करना दुःखी के लिए अनिवार्य है। कारण कि दुःखी का आश्रय "यह" नहीं रहता और दुःखी अपने द्वारा अपने दुःख को मिटा नहीं पाता। ऐसी भयंकर परिस्थिति में आस्था के बिना भी साधक किसी का आश्रय अपनाने लगता है। यदि उस आश्रय को आस्थापूर्वक अपनाया जाय, तो सुगमता पूर्वक समस्या हल हो जाती है। दुःख का प्रादुर्भाव भी उसी के द्वारा साधक के हितार्थ होता है।

जब साधक आये हुए दुःख के प्रभाव से प्रभावित नहीं होता और अपने आप जाने वाले सुख के पीछे ही दौड़ता है, तब 'वे' ही दुःख के वेष में अवतरित हो, दुःखी को दुःख के प्रभाव से प्रभावित कर अमरत्व तथा अनन्त रस का पात्र बना

देते हैं। पर इस रहस्य को वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने सुने हुए में अश्रद्धा तथा अविश्वास नहीं किया है।

विवेक-दृष्टि से देखे हुए का स्वयं अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, केवल प्रतीति होती है और देखे हुए की प्राप्ति भी नहीं होती, अपितु प्रवृत्ति ही होती है। जिसका स्वयं अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, जिसकी प्राप्ति नहीं होती, उसका उपयोग भले ही हो, किन्तु उसमें आस्था, श्रद्धा तथा विश्वास नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से जिसकी प्रतीति है, उसमें आस्था करना भूल है। जिसमें आस्था नहीं की जा सकती, उसकी वास्तविकता का बोध अनिवार्य है।

अतः "यह" को जानो और "वह" में आस्था करो। अहम्-भाव "यह" की ममता है और "वह" की लालसा। "यह" की ममता ने ही अनेक विकारों को उत्पन्न कर बेचारे प्राणी को सुख की दासता एवं दुःख के भय में आबद्ध कर दिया है। दुःख का प्रभाव "यह" की ममता का अन्त कर "वह" की लालसा को सजीव, सबल तथा स्थायी बना देता है, जिसके होते ही साधक प्रेम से अभिन्न हो जाता है, जो अनन्त रस का स्रोत है।

+ + +

सभी परिस्थितियाँ सुख और दुःख से युक्त हैं। यदि परिस्थितियों के निर्माण में प्राणियों को स्वाधीनता होती, तो प्राणी दुःख-रहित परिस्थिति का निर्माण करता; कारण कि दुःख किसी को भी अभीष्ट नहीं है। प्राप्त-परिस्थिति के

सदुपयोग में प्राणियों को स्वाधीनता है, निर्माण में नहीं। परि-स्थितियाँ तो मंगलमय विधान से ही निर्मित हैं। सुख प्राणियों को परिच्छिन्नता में आबद्ध करता है और दुःख परिच्छिन्नता से रहित होने के लिए प्रेरित करता है। सुखी वर्तमान वस्तु-स्थिति में बँध जाता है और दुःखी उससे मुक्त होने के लिए व्याकुल हो जाता है। इस दृष्टि से सुख बन्धन का और दुःख मुक्ति का हेतु है।

फिर भी न जाने, साधक दुःख से भयभीत क्यों होता है और सुख की क्यों आशा करता है ? यदि इस समस्या पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया जाये, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि बेचारा प्राणी दुःख के महत्व और सुख की वास्तविकता को नहीं जानता। दुःख का प्रादुर्भाव हुए बिना विकास सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से सुख के साथ-साथ दुःख का होना अनिवार्य होता है। न चाहते हुए भी जिसका होना अनिवार्य है, वह अपना बनाया हुआ नहीं है, अपितु उसी से मिला है, जिसने भोगार्थियों को कर्म-सामग्री और मोक्षार्थियों को विवेक प्रदान किया है। कर्म-सामग्री कर्म-अनुष्ठान का फल नहीं है, कारण कि कर्म-सामग्री कर्म अनुष्ठान से पूर्व प्राप्त होती है। इसी दृष्टि से मिला हुआ अपना नहीं है, अपितु किसी की देन है।

मिले हुए के सदुपयोग के लिए ही विवेकरूपी विधान मिला है और भोग की रुचि का नाश करने के लिये ही दुःख का प्रादुर्भाव हुआ है। यदि दुःख का प्रादुर्भाव न हो, तो कोई भी साधक पराधीनता, अभाव एवं नीरसता से मुक्त नहीं

हो सकता, जो सुख-भोग का परिणाम है। सुख-भोग के परिणाम से बचाने के लिए दुःखहारी ही दुःख के स्वरूप में अभिव्यक्त होते हैं, जो सभी के अपने हैं और सभी के सुहृद् हैं। यदि साधक दुःख के वेष में अपने परम सुहृद् को पहचान सके, तो अत्यन्त सुगमतापूर्वक सुख की दासता और दुःख का भय मिट जाता और दुःखी अपने आप दुःख के प्रभाव से प्रभावित हो दुःखहारी की प्रीति हो जाता है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

दुःख का प्रभाव दुःखी को दुःख के मिटाने में तत्पर कर देता है और दुःख का भय तथा भोग सुख की आशाओं में आबद्ध रखता है। दुःख स्वरूप से न्यूनाधिक नहीं है। दुःख वास्तव में दुःख ही है। दुःख की अधिकता में दुःख का प्रभाव होगा और न्यूनता में नहीं होगा, ऐसा नियम नहीं है। दुःख का प्रभाव अधिकतर स्वभाव से उन्हीं प्राणियों पर होता है, जो पराधीनता, असमर्थता एवं नीरसता सहन नहीं कर पाते, अर्थात् किसी भी प्रलोभन तथा भय से नीरसता आदि जिन्हें नहीं भाती। दुःख का प्रभाव दुःख की न्यूनाधिक श्रेणियों के आश्रित नहीं होता, अपितु दुःखी की सजगता तथा सावधानी ही दुःख के प्रभाव में हेतु है। जब दुःखी जीवन-संग्राम में हार स्वीकार नहीं करता, अपने लक्ष्य से निराश नहीं होता तथा विकास में अविचल आस्था रखता है और परिस्थितियों से अपना मूल्य अधिक जानता है, तब वह दुःख के प्रभाव से प्रभावित होता है। प्रत्येक मानव परिस्थितियों के परिवर्तन से भलीभाँति परिचित है। जिसे परिस्थितियों के परिवर्तन का ज्ञान है, उसे अपने परिवर्तन का ज्ञान नहीं है, अपनी माँग का ज्ञान भले ही हो।

अपनी माँग अपने से विभाजित नहीं की जा सकती, पर उसकी पूर्ति हो सकती है। इस दृष्टि से जो साधक में माँग के रूप में विद्यमान है, उसी का स्वतन्त्र नित्य अस्तित्व है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है उससे निराश होना, उसे वर्तमान जीवन की आवश्यकता न मानना और उससे विमुख होना साधक की अपनी भूल ही है और कुछ नहीं। जीवन-संग्राम में हार वे ही प्राणी स्वीकार करते हैं, जो परिस्थितियों में ही जीवन-बुद्धि रखते हैं और जिन्हें परिस्थितियों से अतीत के जीवन में अविचल आस्था नहीं होती अथवा जो उस जीवन की जिज्ञासा तथा उसकी खोज नहीं करते।

यह सभी को विदित है कि परिस्थितियाँ जीवन नहीं हैं। यदि परिस्थिति ही जीवन होती, तो कोई-न-कोई परिस्थिति ऐसी अवश्य होती, जिसमें संयोग की दासता तथा वियोग का भय नहीं होता। दासता और भय किसी की स्वाभाविक माँग नहीं है। जो स्वाभाविक माँग नहीं है वह जीवन कैसे हो सकता है? अतः परिस्थितियाँ जीवन नहीं हैं, यह निर्विवाद सिद्ध है। जो जीवन नहीं है, उससे असंगता अत्यन्त सुगमतापूर्वक हो सकती है। जिससे असंगता हो जाती है, उसका प्रलोभन तथा भय शेष नहीं रहता।

परिस्थिति-जन्य प्रलोभन तथा भय का नाश होते ही जीवन-संग्राम में हार स्वीकार करने के लिये कोई स्थान ही नहीं रहता। जीवन-संग्राम में हार का प्रश्न तभी तक रहता है, जब तक प्राणी परिस्थितियों को ही जीवन मानता है। यह मान्यता अविवेक-सिद्ध है, वास्तविक नहीं। जीवन-संग्राम

ही वह अनुपम संग्राम है जिसमें सर्वदा विजय है, हार नहीं। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जो दुःख के प्रादुर्भाव को विकास का मूल मानते हैं।

विश्व के इतिहास और व्यक्तिगत अनुभूतियों से यह सिद्ध नहीं हुआ कि कोई ऐसी परिस्थिति भी है जिसमें केवल सुख हो, दुःख न हो और न कोई ऐसा प्राणी है जिसे सुख भोगते हुए विवश होकर दुःख न भोगना पड़ा हो। तो क्या सुख और दुःख का भोग ही जीवन है? कदापि नहीं। सुख-दुःख के द्वन्द्व से रहित होने में ही जीवन-ज्योति है। यह रहस्य वे ही जानते हैं जिन्होंने परिस्थितियों को जीवन स्वीकार नहीं किया, अपितु उनके सदुपयोग के द्वारा परिस्थितियों से अतीत के जीवन से अभिन्नता प्राप्त की है। अतः जीवन-संग्राम में हार न स्वीकार करने से दुःखी पर दुःख का प्रभाव स्वतः हो जाता है, जो विकास का मूल है।

जो साधक परिस्थितियों से अपना विभाजन नहीं करता और उन्हीं से तादात्म्य बनाये रखता है, वह बेचारा दीनता तथा अभिमान की अग्नि में ही दग्ध होता रहता है, जो वास्तव में किसी को भी अभीष्ट नहीं है। अतः प्रत्येक साधक को परिस्थितियों से अपना विभाजन करना अनिवार्य है, जिसके करते ही परिस्थितियों से अपना मूल्य अधिक हो जाता है और फिर प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहती। इतना ही नहीं, परिस्थिति से असंग हुए बिना कोई भी साधक अपने सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से विचार नहीं कर सकता, जिसके किये बिना दायित्व क्या है और माँग क्या है, इसका स्पष्ट निर्णय नहीं होता।

जब दायित्व और माँग का निर्णय ही नहीं होता, तब "दायित्व पूरा कर सकते हैं", "माँग पूरी होती है", ये समस्यायें वर्तमान की समस्याएँ नहीं बनतीं। प्राकृतिक नियमानुसार हल उसी का होता है, जो समस्या वर्तमान में है। उसके हल में ही प्राणी के पुरुषार्थ की परावधि है और उसी के लिए मानव-जीवन मिला है। इस दृष्टि से अपने सम्बन्ध में विचार करना प्रत्येक साधक के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

यह तभी सम्भव है, जब विवेकपूर्वक परिस्थितियों से असंगता अर्थात् विभाजन कर लिया जाय, जिसके होते ही साधक का अपना मूल्य परिस्थितियों से अधिक हो जाता है। अथवा यों कहो कि साधक में एकमात्र अपने साध्य की ही उत्कट माँग शेष रहती है। जो माँग सभी कामनाओं को खाकर पोषित होती है, वही वर्तमान की माँग है। मंगलमय विधान से उसकी पूर्ति अपने आप होती है। अतः वास्तविक माँग की जागृति में ही उसकी पूर्णता निहित है।

जब तक अपना मूल्य परिस्थितियों से अधिक नहीं होता, तभी तक सुख की दासता तथा दुःख का भय रहता है और तभी तक न तो सुख के प्रलोभन का नाश ही होता है और न दुःख का प्रभाव ही होता है, जिसके बिना हुए किसी भी प्रकार से साधक अपने दायित्व को पूरा नहीं कर पाता और न वास्तविक माँग की पूर्ति ही होती है। 'दायित्व पूरा नहीं कर सकते, माँग पूरी नहीं होती", इस भ्रमात्मक धारणा का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। इस पर भी यदि

कोई यह स्वीकार करे कि मैं वास्तव में कुछ नहीं कर सकता। तो उसे गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए कि प्राकृतिक नियमानुसार जो कुछ नहीं कर सकता, उसे वास्तव में कुछ नहीं करना है और न उससे कोई ऐसा कार्य होता है जो करने योग्य नहीं है।

कुछ न करने की स्थिति, जो करना चाहिए उसके करने पर अर्थात् प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से अथवा निष्कामता से उदित चिर-विश्राम प्राप्त होने पर, अथवा असंगता-पूर्वक स्वाधीनता से अभिन्न होने पर, अथवा अविचल आस्था, श्रद्धा एवं विश्वास-पूर्वक शरणागत होने पर ही आती है। उससे पूर्व न करने के गीत गाना अकर्मण्यता, आलस्य, प्रमाद, असावधानी आदि को ही पोषित करना है, जो सर्वथा त्याज्य है। सामर्थ्य का सद्व्यय अथवा असमर्थता दोनों ही से विकास होता है। प्राप्त सामर्थ्य का दुर्व्यय ही ह्रास का मूल है, असमर्थता नहीं। असमर्थता से पीड़ित प्राणी तो सर्व-समर्थ में आस्था कर अत्यन्त सुगमतापूर्वक शरणागत हो जाता है और फिर कुछ भी करना शेष नहीं रहता। प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय करने पर मंगलमय विधान से आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति तथा साध्य की उपलब्धि स्वतः होती है। इस कारण लक्ष्य से निराश होने में एक मात्र साधक का प्रमाद ही हेतु है और कुछ नहीं।

अल्प सामर्थ्य, विशेष सामर्थ्य तथा असमर्थता विकास में बाधक और सहायक नहीं हैं। सामर्थ्य का सद्व्यय एवं असमर्थता की वेदना ही सफलता में हेतु है, जो सभी साधकों

के लिए सर्वदा सुलभ है। जो सुलभ है, वह दुर्लभ क्यों प्रतीत होती है ? इसका मूल कारण दुःख के प्रभाव से प्रभावित न होना है। दुःख से भयभीत प्राणी की विकास में अविचल आस्था नहीं रहती, जिसके न होने से साधक दुःख के महत्व से अपरिचित रह जाता है और उस पर सर्वांश में दुःख का प्रभाव नहीं होता। बेचारा विवश होकर दुःख का भोगी हो जाता है।

दुःख के भोगी में सुख की आशाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। यद्यपि उन आशाओं की पूर्ति सम्भव नहीं है, परन्तु दुःख का भोगी सुख की आशाओं का त्याग नहीं कर पाता, अपितु वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदि के चिन्तन में आबद्ध हो जाता है। प्राकृतिक नियमानुसार केवल चिन्तन-मात्र से ही उत्पन्न हुई वस्तु, व्यक्ति आदि की प्राप्ति नहीं होती। यदि होती, तो किसी भी व्यक्ति के जीवन में वस्तु-व्यक्ति आदि का अभाव देखने में नहीं आता। पर ऐसा किसी का अनुभव नहीं है कि वस्तु, व्यक्ति का आश्रय रहते हुए उनके अभाव की अनुभूति न होती हो। अतः वस्तु, व्यक्ति आदि की प्राप्ति चिंतन-साध्य नहीं है, अपितु विधान से ही प्राप्त होती है।

प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा में ही साधक का अधिकार है। उनकी ममता में, उनको बनाए रखने की रुचि में साधक का कोई अधिकार नहीं है। वस्तुएँ विधान से ही आती और जाती हैं। इस दृष्टि से विकास में अविचल आस्था न रखना भारी भूल है। विकास में अविचल आस्था बिना किए प्राणी सुख की दासता और दुःख के भय से रहित

नहीं हो सकता और उसके हुए बिना मंगलमय विधान से आये हुए दुःख का प्रभाव नहीं होता। विकास को परावधि किसी उत्पन्न हुई परिस्थिति में आबद्ध होना नहीं है, अपितु अनुत्पन्न हुए अविनाशी, दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्न होने में ही है, जो अनन्त रस से परिपूर्ण है

इसका अर्थ यह नहीं है कि विकास की ओर अग्रसर होने मेंउत्कृष्ट परिस्थितियाँ प्राप्त नहीं होतीं। जिस प्रकार वाटिका के फलों का मूल्य चुकाने पर वाटिका की सुगन्धि और छाया आदि सभी वस्तुएँ अपने आप बिना ही मूल्य मिलती हैं, उसी प्रकार विकास की पराकष्ठा होने पर उत्कृष्ट परिस्थितियां अपने आप स्वागत करने लगती हैं। पर साधक उनसे तादात्म्य स्वीकार नहीं करता। कारण कि परिस्थितियाँ जोवन नहीं है। इस दृष्टि से विकास में अविचल आस्था रखना प्रत्येक साधक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। विकास में अविचल आस्था रखते ही दुःख का भय और भोग शेष नहीं रहता। दुःख का प्रभाव स्वतः हो जाता है, जिसके होते ही दुःखी सदा के लिए दुःख से रहित होकर कृतकृत्य हो जाता है।

लक्ष्य की विस्मृति अथवा उससे निराशा होने पर साधक में सुख के महत्व तथा उसके प्रलोभन की वृद्धि होती है। सुख का प्रलोभन दुःख का भय उत्पन्न करता है, दुःख का प्रभाव नहीं होने देता, जिसके बिना हुए सर्वतोमुखी विकास सम्भव नहीं है। इस कारण लक्ष्य की स्मृति और उसकी प्राप्ति के लिए नित-नव-उत्साह तथा उत्कंठा जागृत होना परम आवश्यक है। वह तभी सम्भव होगा, जब सुख-भोग में जीवन-बुद्धि न

रहे। "सुख-भोग ही जीवन है," इस प्रमाद से ही लक्ष्य की विस्मृति होती है। दुःख का प्रादुर्भाव सुखभोग में विकल्प उत्पन्न कर सुखी में सजगता प्रदान करता है। इस दृष्टि से दुःख सुख की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व की वस्तु है। बेचारा सुख का भोगी देहाभिमान में आबद्ध हो जाता है। कारण कि देहाभिमान ही कामनाओं का उद्गम है और कामनापूर्ति में ही सुख-भोग की सिद्धि होती है।

देहाभिमान के बिना सुख का भोग सम्भव नहीं है। इसी कारण विचारशील व्यक्ति सुख के प्रलोभन को त्याग, दुःख के प्रभाव से प्रभावित हो, वास्तविक जीवन की खोज में तत्पर हो जाते हैं। इस पवित्रतम उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही अनन्त के मंगलमय विधान से सभी प्राणियों को प्रत्येक सुखानुभूति के आदि और अंत में दुःख का भास होता है। यह प्राणियों पर कैसी अहैतुकी कृपा है कि सुख के भोगी को दुःख भोगना ही पड़ता है। सुख की वास्तविकता और दुःख के महत्व का स्पष्ट बोध हो जाने पर साधक अपने लक्ष्य से निराश नहीं होता और फिर अत्यन्त ही सुगमतापूर्वक उसे अपने लक्ष्य की स्मृति हो जाती है, जिसके होते ही आए हुए दुःख का प्रभाव स्वतः होता है, जो साधक को सुख-दुःख के बन्धन से मुक्त कर वास्तविक जीवन से अभिन्न कर देता है।

कामना और माँग का स्पष्ट विभाजन हो जाने पर दुःख दो भागों में विभक्त होता है – "निर्जीव दुःख" और "सजीव दुःख !" निर्जीव दुःख में दुःखी सुख की आशा में दुःख भोगता रहता है और सजीव दुःख में दुःखी सुख की आशा से रहित

दुःख-निवृत्ति की आवश्यकता अनुभव करता है। इतना ही नहीं, वह एक ऐसे जीवन की खोज करता है, जिसमें दुःख-निवृत्ति के साथ-साथ स्वाधीनता और अगाध, अनन्त, नित नव रस की अभिव्यक्ति हो। निर्जीव दुःख तो प्रायः सभी प्राणियों में होता है, किन्तु सजीव दुःख उन्हीं प्राणियों को होता है, जिन्हें विवेक रूपी प्रकाश मिला है। जब साधक निज विवेक के प्रकाश में उत्पन्न हुई परिस्थितियों को देखता है, तब उसे सुख-दुःख-युक्त परिस्थितियों में एकमात्र दुःख का ही दर्शन होता है, अर्थात् जो परिस्थिति इन्द्रिय-दृष्टि से सुख-दुःख युक्त प्रतीत होती थी, वही परिस्थिति बुद्धि-दृष्टि से दुःख-रूप ही भासित होती है।

सुख में दुःख का दर्शन होते ही दुःख की पूर्णता हो जाती है, जिसके होते ही स्वतः दुःख का प्रभाव हो जाता है और फिर अपने आप दुःख-निवृत्ति तथा माँग की पूर्ति हो जाती है। इस दृष्टि से दुःख की पूर्णता में ही दुःख का प्रभाव निहित है। दुःख का अधूरापन दुःखी को सुख में दुःख का दर्शन नहीं करा पाता, अपितु सुख और दुःख दोनों ही को जीवित रखता है। परन्तु जब साधक इन्द्रिय-दृष्टि का उपयोग करते हुए बुद्धि-दृष्टि के प्रभाव से प्रभावित होता है, तब इन्द्रिय दृष्टि के प्रभाव से उत्पन्न हुआ सुख का भास मिट जाता है, जिसके मिटते ही दुःख का अधूरापन शेष नहीं रहता और फिर साधक बहुत ही सुगमतापूर्वक दुःख के प्रभाव को अपना कर वास्तविक माँग की पूर्ति का अधिकारी हो जाता है, जिसके होते ही मंगलमय विधान से माँग की पूर्ति स्वतः हो जाती है।

कामनाओं के रहते हुए प्राणी आए हुए दुःख को सहन

करता रहता है और सुख-सम्पादन के लिए प्रयास करता रहता है, सुख-दुःख से अतीत वास्तविक जीवन की खोज नहीं करता। यद्यपि प्राणी में वास्तविक जीवन की मांग बीज-रूप से विद्यमान है, परन्तु सुख-भोग का प्रलोभन उस मांग को विकसित नहीं होने देता। प्राकृतिक नियमानुसार सुख-सम्पादन का प्रयास करते हुए भी दुःख आता ही है। तब विवश होकर साधक अपनी वास्तविक माँग को सबल तथा स्थायी बनाता है। वास्तविक माँग ज्यों-ज्यों सबल-स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों सुख-भोग की रुचि स्वतः गलती जाती है। सुख-भोग की रुचि का सर्वांश में नाश होते ही साधक वास्तविक माँग से अभिन्न हो जाता है, अर्थात् मांग के अतिरिक्त साधक का और कोई अस्तित्व नहीं रह जाता।

साधक की जो माँग है, वही साध्य का स्वरूप है। इस दृष्टि से साध्य की माँग ही साधक का अस्तित्व है। जिस प्रकार भोजन की मांग के अतिरिक्त भूख और कुछ नहीं है, उसी प्रकार साध्य की माँग के अतिरिक्त साधक का अस्तित्व और कुछ नहीं है। भोजन के मिलते ही भूख और भोजन दोनों ही का अस्तित्व अलग-अलग नहीं रहता, और तृप्ति ही शेष रहती है, उसी प्रकार वास्तविक माँग की पूर्ति होने पर साधक का अस्तित्व शेष नहीं रहता, अपितु साध्य की अगाध, अनन्त, नित-नव प्रियता ही रह जाती है, जो साध्य से दूरी तथा भेद एवं भिन्नता नहीं रहने देती। साध्य की प्रियता साध्य के समान ही अविनाशी है और क्षति, पूर्ति एवं निवृत्ति से रहित है और उससे नित-नव रस की अभिव्यक्ति स्वतः सतत् होती रहती है। इस दृष्टि से साध्य की प्रियता में ही जीवन की पूर्णता निहित है।

कामना-पूर्ति का सुख भोगते-भोगते अन्त में कामना-अपूर्ति की व्यथा ही शेष रहती है। तब साधक विवश होकर कामना-निवृत्ति के लिए प्रयत्नशील होता है। प्राकृतिक नियमानुसार कामना-पूर्ति में सभी प्राणी पराधीन और निवृत्ति में स्वाधीन हैं। इतना ही नहीं, कामना-पूर्ति के सुख की अपेक्षा कामना-निवृत्ति से उदित चिर शान्ति कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। कारण कि कामना-पूर्ति काल में भी कामना-अपूर्ति के समान पराधीनता रहती ही है, अर्थात् कामनापूर्ति के जीवन में स्वाधीनता की गन्ध भी नहीं है। पराधीनता के रहते हुए जड़ता तथा अभाव का नाश नहीं होता। इस कारण कामना-पूर्ति और अपूर्ति दोनों का अर्थ समान है। किन्तु कामना-निवृत्ति पराधीनता का नाश कर स्वाधीनता से अभिन्न करती है। शान्ति की अभिव्यक्ति के बिना स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता। इस दृष्टि से शान्ति का सम्पादन वास्तविक जीवन से अभिन्न होने के लिए अत्यन्त आवश्यक है, जो कामना-निवृत्ति से ही साध्य है। कामना पूर्ति के सुख के अन्त में अपने आप कामना-अपूर्ति का दुःख जिस विधान से आता है, वह विधान कितना मंगलमय है! यदि कामना-पूर्ति का सुख दुःख का नाश कर पाता, तो कभी भी किसी भी प्रकार प्राणी का विकास न होता।

इस दृष्टि से जीवन का वह भाग, जो कामना-अपूर्ति की व्यथा को जागृत करता है, बड़ा ही आवश्यक तथा उपयोगी है। दुःख से भयभीत प्राणी जीवन के इस सुनहरे भाग का आदर नहीं करते, अपितु अपने को अभागे मानकर अधीर होते हैं। यह मान्यता सर्वथा त्याज्य है। कामना-अपूर्ति-जन्य दुःख

से विश्व का कोई भी प्राणी रहित नहीं है। इस कारण कामना-निवृत्ति का प्रश्न सभी के सामने उपस्थित है। तभी तो प्रायः प्राणी सुख के अन्त में सुख-शान्ति का आह्वान करते हैं, दुःख का नहीं। इस स्वाभाविक आह्वान में सुख के अन्त में शान्ति की माँग स्वतः सिद्ध है। परन्तु कामना-अपूर्ति की पीड़ा जब तक कामना-पूर्ति-जनित सुख के प्रलोभन को खा नहीं लेती, तब तक निष्कामता में स्वभाव से अविचल आस्था नहीं होती, जिसके बिना हुए साधक निष्काम हो ही नहीं पाता। इस दृष्टि से दुःख के प्रभाव में ही निष्कामता की अभिव्यक्ति निहित है।

× × ×

कामना-पूर्ति-अपूर्ति-युक्त परिस्थिति में कामना-अपूर्ति का भाग ही वास्तव में महत्वपूर्ण है। यदि उस भाग को निकाल दिया जाय, तो कामना-पूर्ति का भाग प्राणियों को पराधीनता, जड़ता एवं अभाव में ही आबद्ध रखेगा, जो विचारशीलों को अभीष्ट नहीं है। इतना ही नहीं, कामना-पूर्ति-जनित सुख का सम्पादन भी तो कामना की उत्पत्ति के आश्रित ही है। उत्पन्न हुई कामना जब तक पूरी नहीं होती, तब तक कामना-अपूर्ति ही है। इस दृष्टि से कामना-पूर्ति के सुख का आश्रय भी कामना-उत्पत्ति में ही निहित है। परन्तु यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय, तो ऐसा स्पष्ट विदित होता है कि जिस सुखानुभूति को प्राणी कामना-पूर्ति-जनित मानता है, वह मान्यता भी निर्भ्रान्त नहीं है।

प्रत्येक कामनापूर्ति-काल में प्राणी उसी स्थिति में आता

है, जो कामना-उत्पत्ति से पूर्व थी। अतः सुखानुभूति उस स्थिति से सिद्ध है, जो कामना-उत्पत्ति से पूर्व है। पर प्राणी वास्तविकता पर विचार बिना ही किये उस सुखानुभूति को कामनापूर्ति-जनित मान लेता है। इतना ही नहीं, जिन वस्तु, व्यक्ति आदि से कामना पूरी होती है, उन उत्पन्न हुई वस्तु आदि को ही वह सुखरूप स्वीकार करता है। यह स्वीकृति तथा मान्यता भ्रमात्मक ही है। कामना-उत्पत्ति से पूर्व जो स्थिति सहज और स्वाभाविक है, उसकी प्राप्ति मानवमात्र को सर्वदा सुलभ है। कामना-पूर्ति जिन परिस्थितियों से होती है, वे परिस्थितियाँ सभी को सहज प्राप्त नहीं हैं, और ऐसी परिस्थिति तो किसी को भी प्राप्त नहीं है, जिसमें सभी कामनाएँ पूरी हो जाएँ। परन्तु कामना-निवृत्ति से जिस चिर-विश्राम की अभिव्यक्ति होती है, वह प्रत्येक साधक को सर्वदा प्राप्त हो सकती है। उससे निराश होना अपनी असावधानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

कामना-पूर्ति को ही जीवन मानने के समान और कोई भारी भूल नहीं है। इस दृष्टि से कामना-अपूर्ति-जनित व्यथा विकास का मूल है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने निज विवेक के प्रकाश में बुद्धि-दृष्टि से इन्द्रिय-दृष्टि पर विजय प्राप्त की है और दुःख के महत्व को भली भाँति अनुभव किया है। इन्द्रिय-दृष्टि का उपयोग आवश्यक है, किन्तु उसके प्रभाव को स्वीकार करना असावधानी है। यदि इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव वास्तविक माँग की पूर्ति में तथा सर्वतोमुखी विकास में हेतु होता, तो बुद्धि-दृष्टि की आवश्यकता ही नहीं होती। बुद्धि-दृष्टि एकमात्र इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव का अन्त करने के लिए ही मिली है। बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव इन्द्रिय-

दृष्टि का नाशक नहीं है, उसके प्रभाव का नाशक है। इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव नष्ट होने से किसी प्रकार की असुविधा तथा क्षति नहीं होती, अपितु वास्तविक जीवन की माँग जागृत होती है, जो दु:ख के प्रभाव से प्रभावित कर दु:खी को वास्तविक जीवन से अभिन्न करने में समर्थ है।

इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव का नाश होते ही बुद्धि-दृष्टि अपने कारण में विलीन हो जाती है, जिसके होते ही साधक का जीवन विवेकरूपी प्रकाश से प्रकाशित हो जाता है, अविवेक-रूपी अन्धकार शेष नहीं रहता। उसके मिटते ही अकर्त्तव्य, असाधन और आसक्तियाँ निर्मूल हो जाती हैं और फिर अपने आप कर्त्तव्य-परायणता, साधन तथा प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव बड़े ही महत्व की वस्तु है। परन्तु दु:ख का प्रभाव हुए विना बुद्धि-दृष्टि इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव को नष्ट नहीं कर पाती। इसी कारण दु:ख के प्रभाव में ही विकास निहित है।

प्राकृतिक नियमानुसार मानवमात्र को आंशिक सुख और दु:ख का भास है। किन्तु वह किसके प्रभाव से प्रभावित है, यह उसकी व्यक्तिगत बात है। साधकों को तो सुख-दु:ख के प्रभावों के परिणाम पर विचार करना है। यदि प्राणी आंशिक सुख के प्रभाव से प्रभावित है, तो उसमें दु:ख का भय और भोग उत्पन्न होगा, जिसके होते ही अप्राप्त सुख की आशा और प्राप्त सुख की ममता उत्पन्न होगी। यह जानते हुए कि चाहते हुए भी प्राप्त सुख नहीं रहता, तो अप्राप्त सुख की आशा क्या निरर्थक नहीं है? इस दृष्टि से सुख का प्रभाव अवनति का ही

मूल है। सुख की आशाओं के आधार पर दुःख को भोगते रहना और उससे भयभीत होना असावधानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

आये हुए दुःख का प्रभाव न तो प्राप्त सुख में ममता ही रहने देता है और न अप्राप्त सुख की कामनाओं को ही जन्म देता है; अपितु सुख-दुःख से अतीत के जीवन की जिज्ञासा तथा उत्कट लालसा जागृत करता है। जिज्ञासा उत्पन्न हुई कामनाओं का नाश कर वास्तविक जीवन की उत्कट लालसा-पूर्ति में समर्थ है। इस दृष्टि से दुःख का प्रभाव बड़े ही महत्व की वस्तु है। जब तक साधक आये हुए दुःख के प्रभाव को नहीं अपनाता है, तब तक न तो सुख की दासता का ही नाश होता है और न दुःख का आना ही बन्द होता है, अर्थात् दुःख आता ही रहता है। इस कारण शीघ्रातिशीघ्र आये हुए दुःख के प्रभाव को अपनाना है और दुखियों को देख करुणित तथा सुखियों को देख प्रसन्न होना है।

दुःख का प्रभाव अप्राप्त सुख की कामनाओं को उत्पन्न नहीं होने देता और करुणा तथा प्रसन्नता प्राप्त सुख-भोग की रुचि का नाश कर देती है, जिसके होते ही प्राप्त सुख का सद्व्यय स्वतः होने लगता है और फिर परस्पर एकता हो जाती है। इस दृष्टि से समस्त संघर्षों का अन्त दुःख के प्रभाव में ही निहित है। समस्त संघर्ष सुख-लोलुपता से ही उत्पन्न एवं पोषित होते हैं। आंशिक सुख का सद्व्यय एकमात्र सेवा द्वारा विद्यमान राग की निवृत्ति में ही है। आये हुए सुख का भोग करना तो नवीन दुःख के आह्वान के अतिरिक्त और कुछ

नहीं है। अतः प्राप्त सुख दुःखियों की धरोहर है। उसे दुःखियों की भेंट न करना साधक की भारी भूल है।

ममता-रहित होकर करुणित होना ही प्राप्त सुख दुःखियों की भेंट करना है। यह तभी सम्भव होगा, जब साधक किसी-न-किसी दृष्टिकोण से सभी के साथ अपनापन स्वीकार करे। सुख-भोग की रुचि परस्पर भिन्नता को जन्म देती है। जब दुःख का प्रभाव सुख-भोग की रुचि को निर्मूल कर देता है, तब भिन्नता का स्वतः अन्त हो जाता है, जिसके होते ही दुःखियों को देख करुणा और सुखियों को देख प्रसन्नता स्वतः जागृत होता है, जिससे साधक का जीवन जगत के लिए उपयोगी सिद्ध होता है।

× × ×

ममता-युक्त करुणा और प्रसन्नता विकास में हेतु नहीं हैं। उनसे तो मोह ही पोषित होता है। दुःखद और सुखद दृश्य को देख जो करुणा तथा प्रसन्नता होती है, वही विकास का मूल है। जब प्राणी देहाभिमान के कारण दृश्य से ममता जोड़ लेता है, तब उत्पन्न हुई करुणा और प्रसन्नता दुःख का भय तथा सुख का प्रलोभन ही पोषित करती हैं। अतः साधकों को एकमात्र सुख और दुःख पर विचार करना है, किसी व्यक्ति-विशेष के आधार पर नहीं। तभी सुख की वास्तविकता का बोध और दुःख का पूरा-पूरा प्रभाव होता है। व्यक्तिगत रूप से सुख और दुःख आशा और भय में ही आबद्ध रखते हैं।

सुख की आशा से सुख मिल नहीं जाता और दुःख के भय से दुःख मिट नहीं जाता। सुख और दुःख अनन्त के विधान

से अपने आप आते और जाते हैं। उनके सदुपयोग तथा उनकी वास्तविकता के परिचय में ही साधक का विकास है। प्राकृतिक विधान के अनुसार सुख और दुःख एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। उनको विभाजित कर एक की आशा करना और दूसरे से भयभीत होना प्राणियों की भूल है, और कुछ नहीं। सुख की आशा का नाश करते ही दुःख का भय अपने आप मिट जाता है। इतना ही नहीं, सुख में भी दुःख का दर्शन होने लगता है, जिसके होते ही दुःखी दुःख के प्रभाव से प्रभावित हो सुख-दुःख से अतीत के जीवन का अधिकारी हो जाता है।

प्राकृतिक नियमानुसार सुख के भोगियों को दुःख भोगना ही पड़ता है और वे आये हुए दुःख से भयभीत भी होते ही हैं। दुःख का भोग और भय विकास में हेतु नहीं हैं, अपितु उनसे तो प्राप्त शक्ति का ह्रास ही होता है। इतना ही नहीं, दुःख से भयभीत प्राणी सुख और सम्मान को सुरक्षित रखने के लिये उन प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होता है, जो सर्वथा त्याज्य हैं और जिनका परिणाम भयंकर दुःख के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। इस कारण भूलजनित दुःख का भोग सुख का प्रलोभन ही है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। दुःख का भोगी ही दूसरों को दुःख देने में प्रवृत्त होता है। जिस पर दुःख का प्रभाव होता है, वह किसी अन्य को दुःख नहीं देता, अपितु पर-दुःख से करुणित ही होता है। सुख का लोभी और दुःख का भोगी ही दूसरों को दुःख देता है।

विधान के अनुसार दिया हुआ दुःख कई गुना अधिक होकर अपने पर ही आता है। इस दृष्टि से किसी को दुःख

देना अहितकर ही है। पराये दुःख से करुणित होने में ही विकास है। इस कारण जब तक प्राणी सुख-दुःख का भोगी रहेगा, तब तक विकास नहीं होगा और न अकर्तव्य-जनित दुःख का नाश ही होगा। दुःख का प्रभाव प्रमाद का नाश कर अकर्त्तव्य को उत्पन्न ही नहीं होने देता। अतः साधकों को दुःख के भय तथा उसके भोग का त्याग कर दुःख के प्रभाव को अपनाना अनिवार्य है।

× × ×

जिस दुःख के मूल में दुःखी की वर्तमान भूल नहीं है, अपितु जो परिस्थिति-जनित है, उससे दुःखी के सम्मान में बाधा नहीं होती, अर्थात् उसे कोई अपमानित नहीं करता। इतना ही नहीं, उसके प्रति करुणा ही जागृत होती है। उस दुःख से दुःखी की प्राप्त शक्ति का ह्रास नहीं होता। भूलजनित दुःख तो दुःखी को अधीर कर देता है और उसके स्वाभिमान को गहरी ठेस लगती है। वह समाज की ओर से भी तिरस्कार पाता है। इन सब कारणों से भूलजनित दुःख से दुःखी बेचारा उस समय तक विकास के पथ पर अग्रसर नहीं होता, जब तक वह नित्य-प्राप्त वर्तमान निर्दोषता में अविचल आस्था न रखे और दुःख के प्रभाव से भूत काल की भूल को न दोहराने का दृढ़ संकल्प न कर ले। इस दृष्टि से भूतकाल की भूल को न दोहराना और वर्तमान निर्दोषता में अविचल आस्था ही सब ओर से तिरस्कृत दुःखी को वास्तविक जीवन से अभिन्न करने में हेतु है।

प्राकृतिक दुःख से दुःखी प्राणियों के प्रति तो विश्व की ओर से करुणा की धार बहती ही है। उनको आवश्यक आदर,

प्यार तथा सहयोग मिलता ही है और उनका स्वाभिमान भी सुरक्षित रहता ही है। यदि उनमें सुख की आशा न रहे तो वे अत्यन्त सुगमतापूर्वक दुःख के प्रभाव से प्रभावित हो सत्पथ पर अग्रसर हो जाते हैं। परन्तु भूल.जनित दुःखियों को देख कोई विरले ही महापुरुष ऐसे होते हैं, जो उन्हें आदर तथा प्यार एवं आवश्यक सहयोग देकर अधीर नहीं होने देते और उनमें आत्म-विश्वास जाग्रत करते हैं। जिससे वे भी अपनी रुचि, योग्यता एवं सामर्थ्य के अनुसार साधन-पथ में प्रवृत्त हो जाते हैं।

भूल-जनित दुःखियों को देख जिन्हें क्षोभ तथा क्रोध नहीं होता, उन्हीं के हृदय में वास्तविक करुणा की धारा प्रवा-हित होती है, जो उनके लिए तो हितकर है ही, पर विश्व में भी वह करुणा का स्रोत प्राणियों में करुणा जगाने में समर्थ होता है।

पराये दुःख से दुःखी होने के समान और कोई उत्कृष्ट सेवा नहीं है। पर यह सेवा वे ही साधक कर सकते हैं, जो वर्तमान निर्दोषता के आधार पर किसी को बुरा नहीं समझते, किसी का बुरा नहीं चाहते और न किसी के प्रति बुराई करते हैं। भूल-जनित दुःखियों को अपनाने की सामर्थ्य उन्हीं सजग साधकों में होती है, जो अपनी भूल देखने में और उसको न दोहराने में सर्वदा तत्पर हैं।

निर्दोष तत्व सर्वदा विद्यमान है। उससे विमुखता तथा विस्मृति सुख-भोग के कारण हो गई है। दुःख का प्रभाव सुख-भोग की रुचि को खाकर नित्य-प्राप्त निर्दोष तत्व से

अभिन्न करने में समर्थ है। अर्थात् विस्मृति और विमुखता का सर्वांश में नाश दुःख के प्रभाव में ही निहित है।

अनुकूल परिस्थिति में भी जो दुखियों को देख अधीर तथा करुणित हो जाते हैं, वे सहज भाव से सुख के प्रलोभन से रहित होकर दुःख के प्रभाव को अपना कर वास्तविक जीवन की खोज में बड़ी ही सजगता, सावधानी तथा तत्परता से प्रवृत्त हो जाते हैं। वे विश्व की ओर से मिले हुए सम्मान का भोग नहीं करते और श्रम, संयम, सदाचार आदि गुणों के महत्व में आबद्ध नहीं होते। तब मंगलमय विधान से स्वतः सीमित अहं-भाव गल जाता है। जिसके गलते ही जीवन की पूर्णता सिद्ध होती है। इस दृष्टि से सम्मान और सद्गुणों के सुख का भी सर्वांश में त्याग करना अनिवार्य है। पर वह तभी सम्भव होगा, जब सभी का दुःख अपना दुःख हो जाये और किसी भी मूल्य पर दुःख का भोग अभीष्ट न रहे, अपितु असह्य वेदना जाग्रत हो जाये।

सीमित अहं-भाव सुख तथा दुःख के आश्रय से ही जीवित रहता है। सर्वांश में सुख के प्रलोभन का नाश और दुःख की असह्य वेदना से ही सुख-दुःख का आश्रय मिटता है। जिसके मिटते ही अहं-भाव रूपी अणु शेष नहीं रहता और फिर साधक विश्राम, स्वाधीनता तथा प्रेम से अभिन्न हो कृतकृत्य हो जाता है। इस दृष्टि से असह्य वेदना में ही दुःख का प्रभाव निहित है, जो सफलता की कुञ्जी है।

वर्तमान वस्तु-स्थिति प्राणिमात्र की कामना की उत्पत्ति,

पूर्ति, अपूर्ति एवं निवृत्ति से ही युक्त है। कामना उत्पन्न होते ही 'पर' की अपेक्षा होती है, अर्थात् पराधीनता की अनुभूति होती है। पर, प्राणी प्रमादवश कामना-पूर्तिजनित सुख की आशा में पराधीनता से पीड़ित नहीं होता और अल्प-काल के सुख-भोग के प्रलोभन में आबद्ध हो पराधीनता-जनित व्यथा को सहन कर लेता है।

किन्तु प्राकृतिक नियमानुसार कामनापूर्ति का सुख-भोग नवीन कामना को जन्म देता है, जिसके होते ही बेचारा प्राणी कामना-अपूर्ति के दुःख से व्यथित हो जाता है। तब वह कामना-निवृत्ति के लिए प्रयास करता है, जो विवेक-सिद्ध है। कामना-अपूर्ति से उत्पन्न हुए दुःख का प्रभाव ही विवेक के आदर में समर्थ है। पर जब साधक कामना-निवृत्ति की शान्ति में, जो सुख की अपेक्षा कहीं अधिक सरस है रमण करने लगता है तब वह परिच्छिन्नता में आबद्ध हो जाता है जो भेद की जननी है।

भेद के उत्पन्न होते ही प्राणी लोक-रंजन, आत्म-ख्याति आदि में आबद्ध होने लगता है, जो उसे वास्तविक जीवन से अभिन्न नहीं होने देते। इस कारण कामना-निवृत्ति की शान्ति में रमण करना भी उत्कृष्ट सुख-भोग ही है। यह नियम है कि सुख के भोगी को दुःख भोगना ही पड़ता है। इस दृष्टि से शान्ति में रमण करना भी दुःख को दबाना है, उसका नाश करना नहीं। दबा हुआ दुःख अपने आप प्राकृतिक नियम से प्रकट होता है, अर्थात् जब तक परिच्छिन्नता का अत्यन्त अभाव नहीं हो जाता, तब तक दुःख के वेष में अनन्त की अहैतुकी

कृपा होती ही रहती है। पर इस रहस्य कोई विरले ही विचारशील जानते हैं।

दुःख का आना तो मंगलमय है ही, पर उसके प्रभाव से प्रभावित न होना और उससे भयभीत हो जाना साधक को असावधानी ही है। असावधानी प्राकृतिक दोष नहीं है, अपितु साधक की भूल है। दुःख के प्रभाव से जो सजगता उदित होती है, उसी से असावधानी का अन्त होता है। जिसके होते ही साधक कामनापूर्ति, अपूर्ति एवं निवृत्ति से उत्पन्न हुए सुख, दुःख तथा शान्ति को जीवन मानना बन्द कर देता है। कारण कि सुख, दुःख और शान्ति के आश्रित ही अहंभाव जीवित रहता है। जिसके रहते हुए समता, स्वाधीनता एवं प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता।

अतः परिच्छिन्नता का नाश अत्यन्त आवश्यक है, जो दुःख के प्रभाव से ही सम्भव है। दुःख, सुख तथा शान्ति के आश्रित अहं भाव को जीवित रखना वास्तविक जीवन से विमुख होना है। 'अहं' के रहते हुए 'मम' का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। ममता की उत्पत्ति समस्त विकारों की जननी है। दुःख का प्रभाव ममता के नाश में हेतु है। ममता का नाश होते ही निर्विकारता की अभिव्यक्ति स्वतः होती है।

परन्तु विवेकीजन निर्विकारता के आश्रय 'अह' का पोषण नहीं करते। तब किसी प्रकार के गुण का अभिमान तथा दोष की उत्पत्ति नहीं होती। गुण-दोष रहित जीवन में ही वास्तविक निर्दोषता की अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति उसी

की होती है जो अविनाशी है और विनाश उसका होता है, जो उत्पन्न हुआ है। गुण प्राकृतिक है। उसका अभिमान प्राणी की भूल है। गुणों का अभिमान गलते ही किसी भी दोष की उत्पत्ति नहीं होती। गुणों के अभिमान से तो दोष दब भले ही जाएँ, सर्वांश में उनका नाश नहीं होता। इस दृष्टि से गुणों का अभिमान ही दोषों की भूमि है।

जो बुराई भलाई का रूप धारण कर लेती है, उसको जानना और उसे मिटाना बड़ा ही कठिन होता है। जो बुराई बुराई के रूप में होती है, उसको जानना और मिटाना सुगम होता है। गुणों का अभिमान वह मूल दोष है, जो भलाई का वेष धारण कर साधक को परिच्छिन्नता में आबद्ध कर देता है। दोष-जनित वेदना से व्यथित प्राणी अनन्त की अहैतुकी कृपा का आश्रय ले अत्यन्त सुगमतापूर्वक वास्तविक जीवन से अभिन्न हो जाता है। कारण कि असह्य वेदना दोष-जनित सुख-लोलुपता को खा लेती है और साधक को अनन्त की अहैतुकी कृपा का स्पष्ट दर्शन करा देती है। आंशिक दोष रहने पर ही गुणों के अभिमान की उत्पत्ति होती है। दोष-जनित वेदना ही दोषों को निर्मूल करने में हेतु है। केवल गुणों के सम्पादन से दोष समूल नष्ट नहीं होते। अतः दुःख के प्रभाव में ही निर्दोषता की अभिव्यक्ति निहित है।

प्रत्येक साधक में आंशिक गुण और दोष विद्यमान हैं। अतः आंशिक गुणों का अभिमान करना और आंशिक दोषों से व्यथित न होना क्या भूल नहीं है? इस भूल को बनाये रखना दुःख के प्रभाव से वंचित होना है, जो विनाश का

मूल है। दोष युक्त जीवन की माँग अपने लिये किसी को नहीं है। सभी को निर्दोष साथियों की आवश्यकता है। जिसकी मांग अपने लिये नहीं है, उसको जीवन में बनाये रखना कहाँ तक उचित है? इस समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि दोष-जनित वेदना के बिना जीवन विकसित नहीं होता।

दोष को दोष जान लेने पर भी दोष-जनित सुख-लोलुपता का सर्वांश में नाश दोष-जनित असह्य वेदना के बिना सम्भव नहीं है। इसी कारण अधिकतर साधक दोष जान लेने पर भी दोष रहित नहीं हो पाते और आंशिक निर्दोषता के आधार पर झूठा सन्तोष कर बैठते हैं। यद्यपि निर्दोषता से अभिन्न हुए बिना कोई भी साधक सन्तुष्ट नहीं हो सकता, परन्तु आंशिक निर्दोषता के अभिमान में आवद्ध होकर वह आंशिक दोषों की व्यथा से व्यथित नहीं होता।

विचार यह करना है कि जब आंशिक निर्दोषता से सन्तोष होता है, तो आंशिक दोष की व्यथा क्यों नहीं होती? इस मूल भूल पर प्रत्येक साधक को सजगता तथा सावधानी पूर्वक प्राप्त विवेक के प्रकाश में स्वयं विचार करना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब साधक निर्दोषता से निराश न हो और उसकी प्राप्ति में उसकी अविचल आस्था तथा विकल्प-रहित विश्वास हो। यह नियम है कि जिसकी प्राप्ति में विकल्प-रहित आस्था होती है, उसके लिए प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि का सद्व्यय अपने आप होने लगता है। मिले हुए के सदुपयोग में ही सफलता निहित है, यह अनन्त

का मंगलमय विधान है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि निर्दोषता की माँग सभी साधकों की अपनी मांग है और उसकी पूर्ति अनिवार्य है।

आंशिक दोष रहते हुए आंशिक निर्दोषता का भोग करना सर्वथा त्याज्य है। जब साधक आंशिक दोष को किसी भी प्रकार सहन नहीं कर सकता, तब दोष-जनित वेदना स्वतः जागृत होती है और फिर साधक जाने हुए तथा किये हुए दोषों का त्याग करने में समर्थ हो जाता है। तब किये हुए दोषों की पुनरावृत्ति नहीं होती और जाने हुए दोष उत्पन्न नहीं होते। एकमात्र पर-दोष-दर्शन ही आंशिक दोषों की व्यथा को जागृत नहीं होने देता, अपितु आंशिक निर्दोषता का अभिमान उत्पन्न करता है। इस कारण दोष-जनित व्यथा के जगाने में परदोष-दर्शन का त्याग अत्यन्त आवश्यक है। अपना गुण और पराया दोष देखने के समान और कोई दोष नहीं है। इस भयंकर दोष का नाश वर्तमान में ही करना है। उसके पश्चात् ही साधक सजगतापूर्वक अपने सम्बन्ध में विचार करने में प्रवृत्त हो सकता है, जो विकास का मूल है।

प्राकृतिक नियमानुसार जो देखने में आता है, उससे द्रष्टा किसी-न-किसी अंश में अलग हो जाता है। अतः अपने गुणों को देखते ही वे गुण जीवन में नहीं रहते, अपितु उनसे भिन्नता हो जाती है। इस कारण अपने गुणों को देखना अपने को उनसे अलग करना है और पराये दोष देखने से अपने में जो आंशिक गुण हैं, उनका अभिमान उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से पराये दोष और अपने गुणों को देखना दोषों को

पोषित करना है। साधकों को जितने स्पष्ट रूप से अपने दोषों का दर्शन हो सकता है उतना 'पर' के दोषों का नहीं। अतः दूसरे में दोषों को आरोप करना सर्वांश में सत्य नहीं है। जो सत्य नहीं है, उसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

गुणों के न देखने से गुण नष्ट नहीं हो जाते, अपितु जीवन हो जाते हैं। इस कारण गुणों का न देखना ही गुणों से अभिन्न होने का वास्तविक उपाय है। इतना ही नहीं, निर्विकारता तथा निर्दोषता व्यक्ति द्वारा उपार्जित नहीं हैं, अपितु व्यक्ति की खोज है। खोज के द्वारा उसी की प्राप्ति होती है जो अविनाशी तत्व है। अविनाशी तत्व से साधक अभिन्न होता है, उसे उत्पन्न नहीं करता। इस दृष्टि ने गुण व्यक्तिगत उपज नहीं हैं, अपितु व्यक्ति की माँग है। जो वस्तु व्यक्तिगत नहीं है, उसका अभिमान करना भारी भूल है।

यदि निर्दोषता व्यक्तिगत उपज होती,तो सभी के जीवन में सर्वांश में होती। पर ऐसा किसी का भी अनुभव नहीं है। आंशिक दोषों के नाश का दायित्व साधक पर है। कारण कि दोषों की उत्पत्ति प्राप्त विवेक के अनादर से ही होती है। जिन दोषों की उत्पत्ति साधक के प्रमाद से होती है, वे ही दोष नष्ट हो सकते हैं और उनके नष्ट होते ही स्वतः निर्दोष-तत्व से अभिन्नता हो जाती है। निर्दोषता व्यक्तिगत निर्माण नहीं है। वह तो अनन्त का स्वभाव है अथवा स्वतः सिद्ध तत्व है। साधक में स्वतः सिद्ध तत्व की माँग है और उस पर प्रमाद से उत्पन्न हुए आंशिक दोष-जनित सुख का प्रलोभन मिटाने

का दायित्व है। दुःख का प्रभाव दोष-जनित सुख-लोलुपता को खाकर साधक को निर्दोष तत्व से अभिन्न कर देता है।

यह नियम है कि जिसका न होना अपने में असह्य व्यथा जागृत करता है, वह स्वतः होने लगता है। कारण कि वर्तमान की वेदना ही भविष्य की उपलब्धि होती है। अतः निर्दोष तत्व से अभिन्न होने के लिए निर्दोष न होने की वेदना अनिवार्य है। पर यह तभी सम्भव होगा जब साधक सर्वांश में सर्वदा परदोष-दर्शन का त्याग करे। पराये दोष देख प्राणी अपने दोषों को सहन करता रहता है। इस कारण परदोष-दर्शन का बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि परदोष-दर्शी निज दोषों से व्यथित नहीं होता। व्यथा के बिना दोष-जनित सुख-लोलुपता का सर्वांश में नाश नहीं होता, जिसके बिना हुए निर्दोषता की तीव्र लालसा जागृत नहीं होती। जिसकी आवश्यकता नहीं है, उसकी प्राप्ति भी सम्भव नहीं है।

प्राप्ति उसी की होती है जिसकी आवश्यकता वर्तमान में हो। जो आवश्यकता अनेक कामनाओं को खाकर पोषित होती है, वही वास्तव में आवश्यकता है। एक काल में अनेक कामनायें भले ही प्रतीत हों, किन्तु वास्तविक आवश्यकता एक काल में एक ही होती है। इतना ही नहीं, जिसमें वास्तविक आवश्यकता उदित होती है, उसमें और उसकी आवश्यकता में विभाजन नहीं होता। अर्थात् साधक और उसकी आवश्यकता दोनों दो नहीं रहते, अपितु साध्य की आवश्यकता ही साधक का अस्तित्व होता है। कामना और जिसमें कामना उत्पन्न होती है, वे दोनों एक नहीं होते, कारण कि कामनाएँ अनेक

होती हैं। प्रत्येक कामना अनेक अन्य कामनाओं की जननी है। इसी कारण कामना-पूर्ति होने पर भी अन्त में कामना-अपूर्ति ही शेष रहती है, किन्तु वास्तविक आवश्यकता की पूर्ति होने पर आवश्यकता शेष नहीं रहती। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक साध्य से अभिन्न हो जाता है। पर कब ? जब साधक का अस्तित्व साध्य की आवश्यकता से भिन्न न रहे।

साध्य ने अपनी ओर से कभी किसी का त्याग नहीं किया। कारण कि साध्य कहते ही उसको हैं जो सभी साधकों का अपना है और देश-काल की दूरी से रहित अविनाशी है। उसकी प्राप्ति सभी साधकों को सर्वदा सुलभ है। उससे निराश होना भूल है और उससे भिन्न की कामना रखना महाभूल है। अतः साधकों को सजगतापूर्वक सभी कामनाओं का नाश कर साध्य की आवश्यकता को सबल तथा स्थायी बनाना अत्यन्त आवश्यक है। पर वह तभी सम्भव है जब निजदोष-जनित सुख-लोलुपता का सर्वांश में नाश कर दिया जाय। दोष को दोष जान लेने मात्र से ही दोष का नाश नहीं होता।

दोष-जनित वेदना ही दोष-जनित सुख-लोलुपता का नाश करती है। अतः दुःख के प्रभाव में ही निर्दोषता की आवश्यकता पोषित होती है। आवश्यकता की सर्वांश में जागृति और उसकी पूर्ति उसी प्रकार युगपद् है, जिस प्रकार सूर्य का उदय और अन्धकार की निवृत्ति। वास्तविक आवश्यकता की जागृति में ही साधक के पुरुषार्थ की पराकाष्ठा है, जो दुःख के प्रभाव में निहित है।

मंगलमय विधान से आये हुए दुःख का आदरपूर्वक

स्वागत करना और उससे भयभीत न होना प्रत्येक विकासोन्मुख प्राणी के लिए अनिवार्य है। दुःख के आते ही सुख के पीछे दौड़ना, क्षणिक सुख द्वारा दुःख को दबाने का प्रयास करना और अन्त में दुःख को भोगना भूल है। सुख प्राणी को सुषुप्तिवत् जड़ता में आवद्ध करता है। जिससे वह बेचारा वर्तमान वस्तु-स्थिति से अपरिचित हो जाता है, जिसके होते ही प्राणी अपने दायित्व और वास्तविक माँग को भूल जाता है, अर्थात् उसे साधन और साध्य की विस्मृति हो जाती है। उसके होते ही अकर्त्तव्य, असाधन और आसक्ति उत्पन्न होती हैं, जो किसी भी साधक को अभीष्ट नहीं है। आया हुआ दुःख प्रकृति का दण्ड-विधान नहीं है, अपितु ऐसा अनुपम उपहार है जिसको पाकर ही प्राणी सजग, सावधान और जागृत हो जाता है।

जागृति ही वास्तविक जीवन की भूमि है। जागृति से ही प्राप्त परिस्थिति का वास्तविक परिचय होता है, जिसके होते ही सभी परिस्थितियों से अतीत वास्तविक दिव्य-चिन्मय जीवन की उत्कट लालसा उदित होती है, जो सभी आसक्तियों को खाकर राग-रहित करने में समर्थ है। राग-रहित भूमि में ही योगरूपी वृक्ष का प्रादुर्भाव होता है, जो कल्पतरु के समान है, अर्थात् उसमें समस्त विकास होते हैं। इतना ही नहीं, योग-रूपी वृक्ष पर ही तत्त्व-ज्ञानरूपी फल लगता है, जो प्रेम-रस से परिपूर्ण है।

इस दृष्टि से राग-रहित होना मानव-मात्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना किसी का भी किसी प्रकार का विकास सम्भव नहीं है। यदि वर्तमान परिवर्तनशील जीवन

में दुःख का भाग निकाल दिया जाय तो कोई भी प्राणी किसी भी प्रकार से राग रहित नहीं हो सकता। इस दृष्टि से दुःख जीवन का सुनहरा भाग है। उससे भयभीत होना और उसको भोगना भारी भूल है।

दुःख जितना गहरा हो उतना ही हितकर है, किन्तु दुःख आते ही सुख का आह्वान करना दुःख का भोग है, दुःख का प्रभाव नहीं। दुःख के भोग से दुःखी अधीर हो जाता है और कभी-कभी वह करने लगता है जो नहीं करना चाहिये और वह मानने लगता है जो नहीं मानना चाहिए। इस कारण दुःख का भोग दुःखी के विकास में बाधक है, किन्तु दुःख का प्रभाव दुःखी को सजग तथा स्वावलम्बी बनाता है और दुःखी सर्वांश में दुःख का अन्त करने के लिए अथक प्रयत्नशील होता है। यह नियम है कि जो हार स्वीकार नहीं करता, वह विजयी अवश्य होता है। अतः दुःख का आदरपूर्वक स्वागत करते हुए सतत् प्रयत्नशील रहना है। सफलता अनिवार्य है।

वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि के द्वारा सुखानुभूति में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना सुख के स्वरूप से अपरिचित रहना है। सुख का यथार्थ ज्ञान होने पर ही सुख में जीवन-बुद्धि शेष नहीं रहती। कारण कि सुख-रूपी भूमि में दुःख उत्पन्न होता है। इतना ही नहीं, सुख सुख के भोगी को पराधीनता, जड़ता एवं अभाव में आबद्ध करता है। सुख-भोग की रुचि ज्यों-ज्यों सबल होती जाती है, त्यों-त्यों बेचारा सुखी अपने अस्तित्व को ही खोता जाता है। उसके व्यक्तित्व में वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि का ही महत्व अंकित होता

जाता है। उन्हीं के आश्रित वह अपने को दीनता तथा अभिमान की अग्नि में दग्ध करता रहता है।

दुःख का प्रभाव प्राणी को सुख का भोगी नहीं रहने देता, अपितु सुख का सदुपयोगी बना देता है। सुख का सदुपयोग पर-सेवा में है। सेवा सेवक को विभु करती है और सुख का भोग भोगी को सीमित बनाता है। इस दृष्टि से सुख का भोग अहितकर और सुख का सदुपयोग हितकर है। मंगलमय विधान से सुख सेवा के लिए मिला है, भोग के लिए नहीं। पर यह रहस्य तभी खुलता है जब साधक आये हुए दुःख के प्रभाव से त्याग को अपनाकर सुख-दुःख से अतीत वास्तविक जीवन से अभिन्न हो जाता है। सुख के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान और उसके सदुपयोग की सामर्थ्य दुःख के प्रभाव में ही निहित है।

+ + +

जो साधक सार्वजनिक दुःख से पीड़ित हैं, वे अत्यन्त सुगमतापूर्वक आये हुए सुख का सदुपयोग करने में समर्थ होते हैं। व्यक्तिगत दुःख से भी दुःखी में जागृति आती है। प्राणिमात्र के दुःख से दुःखी होने पर तो साधक के जीवन में अनन्त ऐश्वर्य और माधुर्य की अभिव्यक्ति होती है। ऐश्वर्य तो इस प्रकार का कि उसे अपने लिए जगत् की अपेक्षा नहीं रहती और माधुर्य इस प्रकार का कि वह सभी को अपना लेता है। उसके जीवन में भिन्नता की गन्ध भी नहीं रहती और न काम, क्रोध आदि विकारों की ही उत्पत्ति होती है। व्यक्तिगत दुःख से दुःखी प्राणी प्रथम त्याग को अपनाता है, और फिर

त्याग से प्राप्त सामर्थ्य द्वारा सेवा में प्रवृत्त होता है। अथवा यों कहो कि उससे स्वतः सेवा होने लगती है।

सार्वजनिक दुःख से दुःखी प्राणी प्रथम सेवा को अपनाता है। सेवा की पूर्णता त्याग में विलीन होती है, भोग में नहीं। अर्थात् जिसने सेवा की है, उसमें त्याग का बल स्वतः आ जाता है। इस दृष्टि से सेवा त्याग में और त्याग सेवा में विलीन होता है। सेवा और त्याग दोनों के ही द्वारा साधक वास्तविक जीवन से अभिन्न हो जाता है। इस दृष्टि से दुःख के प्रभाव में ही विकास है, चाहे वह दुःख व्यक्तिगत हो अथवा सार्वजनिक।

दुःख के प्रभाव से प्रभावित साधक जब त्याग और सेवा को अपनाता है, तब उसके जीवन में शान्ति, सामर्थ्य एवं स्वाधीनता की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। जो साधक शान्ति में रमण नहीं करता, सामर्थ्य का दुरुपयोग नहीं करता और स्वाधीनता में सन्तुष्ट नहीं होता, उसका अनन्त के मंगलमय विधान से प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश होता है। शान्ति में रमण न करने से शान्ति नष्ट नहीं होती, अपितु अविचल और स्थायी हो जाती है और शान्ति में रमण करने से साधक में परिच्छिन्नता आ जाती है, जो विनाश का मूल है। अतः त्याग से अभिव्यक्त शान्ति में रमण नहीं करना है, अपितु उससे असंग होना है; और शान्ति से उदित सामर्थ्य का दुरुपयोग नहीं करना है, अपितु निष्काम भाव से उसका सद्व्यय करना है, जिसके करते ही स्वाधीनता से अभिन्नता हो जाती है।

स्वाधीनता में सन्तुष्ट होने से जीवन अपने लिए ही उपयोगी प्रतीत है, परन्तु प्रेम का प्रादुर्भाव नहीं होता। उसके बिना हुए जीवन अगाध, अनन्त, नित्य-नव रस से परिपूर्ण नहीं होता। दुःख का पूर्ण प्रभाव साधक को न तो शान्त-रस में रमण करने देता है और न स्वाधीनता में ही आवद्ध रहने देता है अपितु प्रेम-तत्व से अभिन्न कर अनन्त रस का पात्र बना देता है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

\+ \+ \+

सुख की सम्भावना मात्र से आया हुआ दुःख निर्जीव हो जाता है और फिर बेचारा दुःखी सुख की आशा में दुःख सहन करता रहता है। इस द्वन्द्वात्मक अवस्था को जीवित रखना दुःखो का प्रमाद है। यद्यपि आशा मात्र से सुख आ नहीं जाता और सहन करने मात्र से दुःख मिट नहीं जाता। आये हुए दुःख पर सावधानीपूर्वक विचार न करने से बेचारा दुःखी सुख की आशा में आबद्ध होकर दुःख सहन करता रहता है। यदि दुःखी सुख की आशा से रहित हो जाये, तो अपने आप दुःख का प्रभाव होने लगता है। जिसके होते ही दुःखी में दुःख का अन्त करने की तीव्र लालसा अपने आप जागृत हो जाती है। जिसके होते हो दुःख का भय और भोग नष्ट हो जाते हैं और केवल दुःख मिटाने की तीव्र लालसा मात्र ही दुःखी का अस्तित्व रह जाता है, जिसे देख दुःखहारी स्वय करुणित हो दुःखी का दुःख सदा के लिए हर लेते हैं।

पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने मिली हुई सामर्थ्य का दुरुपयोग नहीं किया, बलपूर्वक दुःख

मिटाने में समर्थ नहीं हुए और न दुःख को किसी भी प्रकार सहन ही कर सके। अर्थात् जिन्हें सुख की दासता तथा दुःख के भय से युक्त जीवन बनाये रखना असह्य हुआ। इस दृष्टि से दुःख का असह्य होना ही दुःख के प्रभाव में हेतु है। सर्वांश में दुःख का नाश नहीं हो सकता, यह प्रमाद ही प्राणियों को सुख की दासता तथा दुःख के भय में आबद्ध रखता है।

मंगलमय विधान से दुःख का प्रादुर्भाव एकमात्र सुख की दासता से मुक्त करने के लिए ही होता है। गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि दुःखदाता ही दुःखहारी है। इतना ही नहीं, साधक को सुख की दासता से मुक्त करने के लिए दुःखहारी ही दुःख के वेश में अवतरित होते हैं। अतएव दुःख बड़े ही महत्व की वस्तु है; उससे भय-भीत होना भूल है।

देहाभिमान के कारण बेचारा प्राणी सुख की दासता तथा दुःख के भय में आबद्ध होता है, जो अविवेक सिद्ध है। प्राप्त विवेक का आदर करते ही अविवेक स्वतः नष्ट हो जाता है। जिसके होते ही देहाभिमान गल जाता है और फिर सुख की दासता तथा दुःख का भय शेष नहीं रहता। सुख-भोग से अविवेक पोषित होता है।

प्राकृतिक नियमानुसार दुःख के आते ही साधक में सजगता आती है और ज्यों-ज्यों दुःख का प्रभाव स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों सजगता सबल होती जाती है, जिसके होते ही साधक अत्यन्त सुगमता पूर्वक प्राप्त विवेक का आदर कर

अविवेक का नाश करने में समर्थ होता है। इस कारण दुःख के प्रादुर्भाव में ही सजगता, सावधानी एवं प्राप्त विवेक का आदर निहित है, जो समस्त विकासों का मूल है।

× × ×

गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि सुख का स्थायित्व तथा दुःख का सर्वांश में अभाव किसी परिस्थिति विशेष में नहीं है। इस कारण प्रत्येक परिस्थिति में दुःख के प्रभाव द्वारा साधक सुख की दासता और दुःख के भय से रहित हो सकता है। इस दृष्टि से सुख की दासता तथा दुःख के भय का अन्त प्रत्येक साधक का अपना मौलिक प्रश्न है। इस प्रश्न को विना हल किये अन्य कार्यों में प्रवृत्त होना बड़ी ही असावधनो है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। यह नियम है कि मूल प्रश्न का उदित होना ही उसके हल में मुख्य हेतु है। इस प्रश्न को जमा रखना और अन्य कार्यों में व्यस्त रहना उचित नहीं है, अपितु अपने द्वारा अपना सर्वनाश करना है।

प्राकृतिक नियमानुसार जो प्राणी अपने द्वारा अपना अहित नहीं करता, उसका हित अवश्य होता है। इतना ही नहीं, उसका जीवन सभी के लिए उपयोगी होता है। इस कारण अपने आप अपना अहित किसी भी साधक को कभी भी नहीं करना चाहिए। इस मूल मन्त्र को अपनाते ही प्रत्येक साधक स्वतः ही सिद्धि पा जाता है। अपने द्वारा अपना अहित करता रहे और दूसरों के द्वारा अपने हित की आशा करे, यह घोर प्रमाद है। जो साधक दुःख के प्रभाव से प्रभावित हो अपने

हित में रत हैं, उनके हित में जड़-चेतन सभी पूरा-पूरा सहयोग देते हैं और हर्षित होते हैं, क्योंकि विकसित जीवन सभी के लिये हितकर होता है। अपने अहित के समान और कोई भूल नहीं है।

जो प्राणी अपना अहित करता है, उससे दूसरों का अहित अपने आप होने लगता है। अपने प्रति किया हुआ अहित विभु हो जाता है। इस दृष्टि से दूसरों के अहित का कारण भी वही प्राणी है, जो सतत् सजगतापूर्वक अपने हित में रत नहीं है। दुःख का प्रभाव दुःखी को अपने हित में और सुख की दासता सुखी को अपने अहित में प्रवृत्त करती है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक को शीघ्रातिशीघ्र सुख की दासता और दुःख के भय से रहित होना अनिवार्य है।

पराधीनता में जीवन-बुद्धि बनाये रखने से प्राणियों में अधिकार-लालसा पोषित होती है। अधिकार-लालसा रहते हुए कोई भी प्राणी राग तथा क्रोध से रहित नहीं हो सकता। कारण कि अधिकार की अपूर्ति में क्रोध और पूर्ति में राग अपने आप उत्पन्न होता है। क्रोध के उत्पन्न होते ही प्राणी अपने कर्त्तव्य को, निज-स्वरूप को और जिससे सब कुछ मिला है, उस अनन्त को भूल जाता है। कर्त्तव्य की विस्मृति में ही अकर्त्तव्य और स्वरूप की विस्मृति में ही देहाभिमान एवं प्रेमास्पद की विस्मृति में ही अनेक आसक्तियों की उत्पत्ति हो जाती है, जो विनाश का मूल है।

अकर्त्तव्य उत्पन्न होते ही जीवन जगत् के लिए केवल अनुपयोगी ही नहीं, अपितु अहितकर हो जाता है और परस्पर

अनेक प्रकार के संघर्ष उत्पन्न होते हैं। स्वरूप की विस्मृति होते ही प्राणी देहाभिमान में आबद्ध हो अपने लिये अनुपयोगी हो जाता है और फिर बेचारा जड़ता, पराधीनता, अभाव आदि में आबद्ध हो दुर्गति पाता है। प्रेमास्पद की विस्मृति में ही नीरसता पोषित होती है। नीरसता की भूमि में ही अनेक विकार उत्पन्न होते हैं। विकार युक्त जीवन किसी के लिए भी उपयोगी नहीं है।

राग प्राणियों को पराधीनता में जीवन-बुद्धि उत्पन्न कर अनुकूलता की दासता और प्रतिकूलता के भय में आबद्ध करता है। इतना ही नहीं, रागरहित हुए बिना कोई भी साधक योगवित्-तत्ववित् एवं अनुराग से परिपूर्ण नही हो पाता। इन सब कारणों से क्रोध तथा राग सर्वथा त्याज्य हैं; कारण कि राग तथा क्रोध के रहते हुए जीवन अपने लिए तथा जगत् के लिये एवं प्रेमास्पद के लिये उपयोग सिद्ध नहीं होता। अतः राग तथा क्रोध का अन्त करना अनिवार्य है। दुःख का प्रभाव पराधीनता में जीवन-बुद्धि नहीं रहने देता; कारण कि पराधीनता के समान और कोई दुःख नहीं है।

स्वाधीनता की माँग स्वाभाविक माँग है। स्वाधीनता के बिना अमरत्व से अभिन्नता सम्भव नहीं है। पराधीनता की असह्य वेदना अधिकार-लालसा के त्याग का पाठ पढ़ाती है। अधिकार-लालसा के नाश में ही कर्त्तव्यपरायणता निहित है, जो विकास का मूल है।

पराधीनता-जनित सुख-लोलुपता ही अकर्तव्य, असाधन और आसक्तियों की जननी है। इस कारण पराधीनता-जनित

सुख लोलुपता का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। सुख-लोलुपता का नाश दुःख के प्रभाव से सम्भव है किसी अन्य प्रकार से नहीं। यह सभी को विदित है कि दुःख का प्रादुर्भाव न चाहने पर भी अपने आप प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में प्राकृतिक विधान से होता है। दुःख है, पर उसका प्रभाव यदि साधक नहीं अपनाता, तो यह उसकी अपनी असावधानी तथा भूल है। प्रत्येक साधक को इस भूल का शीघ्रातिशीघ्र अन्त करना अत्यन्त आवश्यक है।

सुख-लोलुपता रूपी अन्धकार दुःख के प्रभाव रूपी सूर्य के उदय होने से ही नष्ट होगा, जिसके होते ही अकर्त्तव्य, असाधन और आसक्तियाँ निर्मूल हो जायेंगी और फिर साधक के जीवन में कर्त्तव्य-परायणता, साधन एवं प्रेम का प्रादुर्भाव स्वतः होगा। यह निर्विवाद सिद्ध है। सर्वांश में अकर्त्तव्य, असाधन और आसक्तियों का नाश हुए बिना साधक साध्य के स्वभाव से अभिन्न नहीं होता, जिसके बिना हुए साधन और जीवन में एकता नहीं होती; अर्थात् जीवन साधन नहीं होता, अपितु आंशिक साधन और असाधन के कारण साधक दीनता तथा अभिमान में आबद्ध हो जाता है। यह द्वन्द्वात्मक स्थिति प्राणियों को भय तथा प्रलोभन में आबद्ध रखती है।

प्रलोभन से दासता और भय से जड़ता पोषित होती है। दासता तथा जड़ता किसी भी साधक को स्वभाव से ही अभीष्ट नहीं है। इस कारण प्रलोभन तथा भय से रहित होना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब साधक आये हुए दुःख के प्रभाव को अपनाकर पराधीनता-जनित सुख-लोलुपता का अन्त कर

निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाय। निश्चिन्तता से सामर्थ्य और निर्भयता से कर्त्तव्य-परायणता की अभिव्यक्ति स्वतः होती है, जो विकास का मूल है।

व्यक्तिगत सत्य व्यक्तिगत विकास के लिये भले ही साधन-रूप हो, किन्तु उसे विभु बनाने का प्रयास साधकों तथा सुधारकों में आग्रह उत्पन्न करता है। व्यक्तिगत सत्य के अनुसरण से व्यक्ति के जीवन में जिस सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है, वह सौन्दर्य तो स्वभाव से सर्वप्रिय होता ही है, पर व्यक्तिगत उपाय को सार्वभौमिक बनाने का प्रयास अपने में आग्रह को उत्पन्न करता है।

व्यक्तिगत सत्य वास्तविक सत्य की प्राप्ति में साधन-रूप है, इस कारण व्यक्तिगत रूप से आदरणीय तथा अनुसरणीय है। पर सबको व्यक्तिगत पथ पर ही चलाने का प्रयास आग्रही बना देता है। आग्रह से सत्य असत्य से ढँक जाता है और फिर व्यक्तिगत सत्य, जो अपने लिए साधन-रूप था, साधन-रूप नहीं रहता, अपितु उससे अहंभाव ही पोषित होने लगता है। अहंभाव परस्पर एकता सुरक्षित नहीं रहने देता, अपितु भेद को जन्म देता है, जो संघर्ष का मूल है। संघर्ष के द्वारा कभी भी शान्ति के साम्राज्य की स्थापना नहीं हो सकती। इस दृष्टि से संघर्ष का अन्त करना अनिवार्य है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब साधक अपने व्यक्तिगत सत्य के अनुसरण द्वारा अनन्त नित्य-सौन्दर्य की ओर अग्रसर होता रहे।

यह नियम है कि साधन-रूप सत्य का अनुसरण ही साध्य-रूप सत्य से अभिन्न करता है। साध्य-रूप सत्य ही

वास्तव में सार्वभौमिक सत्य है। परस्पर योग्यता, रुचि, सामर्थ्य, परिस्थिति आदि का भेद प्राकृतिक भेद है। प्राकृतिक भेद के कारण ही व्यक्तिगत साधन-रूप सत्य में भेद है। साधन-रूप सत्य व्यक्तिगत रूप से अनुसरणीय है। साध्य-रूप सत्य फल है, उपाय नहीं। उपाय में भिन्नता और फल में एकता स्वतः सिद्ध है। उपाय में भिन्नता होने पर भी परस्पर स्नेह की एकता सुरक्षित रखना अनिवार्य है। स्नेह की एकता के बिना किसी भी प्रकार पारस्परिक संघर्ष का नाश सम्भव नहीं है।

दुःख का प्रभाव साधक में आग्रह शेष नहीं रहने देता। सार्वजनिक दुःख से दुःखी होना और व्यक्तिगत सुख का सद्-व्यय करना अनुसरणीय है। पर व्यक्तिगत साधन को बल तथा आग्रहपूर्वक व्यापक बनाने का प्रयास अपने व्यक्तिगत सत्य से विमुख होना है और परस्पर भिन्नता को पोषित करना है। सभी का दुःख अपना दुःख है, यह महामन्त्र अपनाये बिना आग्रह का अन्त अन्य किसी प्रकार सम्भव नहीं है। जब प्राणी पर-दुःख से दुःखी नहीं होता, अपितु ममतायुक्त दुःख से ही दुःखी होता है, तब उसके जीवन में दुःख का पूरा प्रभाव नहीं होता। जिसके बिना उससे न तो व्यक्तिगत साधन का अनुसरण ही हो पाता है और न उसका आग्रह ही नष्ट होता है। साधन का आग्रह असाधन और उसका अनुसरण साधन-रूप है। साधनयुक्त जीवन की माँग विश्व की माँग है।

अपने व्यक्तिगत साधन को सिखाने का आग्रह साधन का भोग है, सेवा नहीं। सेवा दुःखियों को देख करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न होने का पाठ पढ़ाती है, शासक नहीं

बनाती। प्रत्येक साधक को अपना शासक होना है। किसी को शासित करना अपने को दासता में आबद्ध करना है। इसी कारण प्रत्येक शासक कालान्तर में स्वयं शासित हो जाता है। अतः अपने पर अपने शासन द्वारा अपने को सुन्दर बनाना है। इस दृष्टि से व्यक्तिगत साधन बड़े ही महत्व की वस्तु है। सेवक की माँग जगत् को सदैव रहती है। जगत् सदैव सेवक के पीछे दौड़ता है, उसका चिंतन करता है। पर सेवक न तो जगत् के पीछे दौड़ता है और न उसका चिंतन ही करता है, अपितु जगत् के दुःख से दुःखी हो दुःख के प्रभाव को अपनाकर अहंभाव से रहित हो कृतकृत्य हो जाता है।

× × ×

प्राकृतिक नियमानुसार ऐसा कोई प्राणी है ही नहीं, जिसके जीवन में किसी-न-किसी अंश में दुःख न हो। उस आये हुए दुःख का प्रभाव दुःखी को अपनाना है। दुःख अपने आप आता है, पर उसके प्रभाव को अपनाने का दायित्व साधक पर है। दुःख आने पर सुख की ओर दौड़ना दुःख के प्रभाव से विमुख होना है और सुख की वास्तविकता को जानने का प्रयास दुःख के प्रभाव से प्रभावित होना है। मंगलमय विधान से दुःख सुख के स्वरूप का यथार्थ बोध कराने के लिए ही आता है।

जब तक प्राणी सुख की ओर दौड़ता रहेगा और उसकी वास्तविकता से अपरिचित रहेगा, तब तक दुःख अपने आप आता ही रहेगा। सुख की वास्तविकता का अनुभव करते ही सुख में भी दुःख का ही दर्शन होता है, जिसके होते ही दुःखी दुःख के प्रभाव से प्रभावित हो सुख की दासता से रहित हो

जाता है और फिर दुःख आह्वान करने पर भी नहीं आता। इस दृष्टि से दुःख सुख की दासता से रहित होने के लिये हो मिलता है। यदि प्राणी प्रमादवश सुख की दासता से रहित नहीं होगा, तो सुख की दासता उसे सर्वदा दुःख के भय से भयभीत करती रहेगी और उसे विवश होकर दुःख भोगना ही पड़ेगा। इस कारण प्रत्येक साधक को शीघ्रातिशीघ्र दुःख के प्रभाव को अपनाकर सुख की दासता से रहित होना अत्यन्त आवश्यक है।

प्राकृतिक नियमानुसार दुःख का प्रभाव ही सर्वतोमुखी विकास की भूमि है। दुःखियों के दुःख की निवृत्ति तथा जिज्ञासुओं को तत्वज्ञान से एवं प्रेमियों को प्रेमास्पद से अभिन्न करने में दुःख का प्रभाव ही हेतु है। इतना ही नहीं, प्रत्येक आविष्कार के मूल में दुःख की ही प्रधानता है। विज्ञान-वेत्ताओं का विज्ञान, साहित्यिकों का साहित्य एवं दार्शनिकों का दर्शन दुःख के प्रभाव से ही उद्‌भूत हो पोषित होता है। यदि जीवन में दुःख का प्रादुर्भाव न हुआ होता तो प्राणियों में सजगता उदित ही न होती। जिसके बिना किसी प्रकार का भी विकास सम्भव नहीं होता, यह निर्विवाद सिद्ध है।

सजगता से ही दर्शन की अभिव्यक्ति, साहित्य का सृजन और विज्ञान का आविष्कार होता है। सजगता विकसित जीवन का अनिवार्य अङ्ग है। सजग साधकों से ही सुन्दर समाज का निर्माण होता है और व्यक्ति के कल्याण में भी सजगता ही मुख्य हेतु है। इस दृष्टि से दु:ख बड़े ही महत्व की वस्तु है। उससे भयभीत होना और सुख का आह्वान करना दुःख के

प्रभाव से रहित होना है। इतना ही नहीं, दुःख से भयभीत प्राणी ही व्यक्तिगत सुख की आशा में दूसरों को दुःखी बनाते हैं और स्वयं भी दुःख भोगते रहते हैं। यह आये हुए दुःख का दुरुपयोग है।

दुःख के दुरुपयोग से किसी का दुःख नष्ट नहीं होता और न सुख का सम्पादन ही होता है, अपितु उत्तरोत्तर दुःख की वृद्धि ही होती रहती है। परन्तु दुःख का सदुपयोग करने से साधक दुःख से रहित हो जाता है और फिर उसके द्वारा न तो किसी के सुख का अपहरण होता है और न किसी के लिए उसका जीवन दुःखद रहता है। दुःख रहित महापुरुषों से ही साधकों को दुःख के सदुपयोग का प्रकाश मिलता है। दुःख के सदुपयोग के द्वारा प्रत्येक दुःखी प्रत्येक परिस्थिति में दुःख रहित हो सकता है और फिर उसका जीवन सभी के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

दुःख से भयभीत प्राणियों में ही हिंसात्मक वृत्तियों की उत्पत्ति होती है। गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि हिंसा किसी को भी अभीष्ट नहीं है; कारण कि हिंसा अपने और दूसरों के विकास में बाधक है। यदि साधक दुःख के सदुपयोग द्वारा दुःख के भय तथा भोग से रहित हो जाये तो उसके जीवन में अहिंसा की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। हिंसा व्यक्ति का अपना उत्पन्न किया हुआ दोष है और अहिंसा का प्रादुर्भाव मङ्गलमय विधान से होता है। दुःख-रहित जीवन विधान से अभिन्न हो जाता है और उसी जीवन से पथ-प्रदर्शन मिलता है। विधान-विरोधी जीवन सभी के लिये अहितकर है।

दु:ख से भयभीत प्राणी ही लोभ, मोह, काम, क्रोध आदि विकारों में आबद्ध हो जाता है। जिसके जीवन में हानि का भय नहीं है, उसमें लोभ की उत्पत्ति नहीं होती। जो वियोग के भय तथा संयोग की दासता से रहित है, उसमें मोह की उत्पत्ति नहीं होती। जो सुख के प्रलोभन तथा अधिकार-लालसा से रहित है, उसमें काम, क्रोध आदि विकारों की उत्पत्ति नहीं होती। दु:ख के भय से ही सुख का प्रलोभन और अधिकार के अपहृत होने के भय से ही अधिकार-लालसा पोषित होती है। अर्थात् भयभीत होने से ही समस्त विकार उत्पन्न होते हैं। परन्तु यह रहस्य वे ही विचारशील जानते हैं, जिन्होंने दु:ख के सदुपयोग के द्वारा अपने को दु:ख के भय तथा भोग से रहित कर वास्तविक जीवन से अभिन्नता प्राप्त की है।

दु:ख का भय दु:ख से भी अधिक भयकर है। प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में दु:ख उतना ही आता है, जितना उसके विकास के लिए आवश्यक है। असह्य दु:ख होते ही दु:ख की निवृत्ति स्वत: हो जाती है। इस दृष्टि से दु:ख से भयभीत होना दु:खी की भारी भूल ही है। दु:ख के भय से प्राप्त शक्ति का ह्रास और शारीरिक तथा मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है। इतना ही नहीं, दु:ख से भयभीत प्राणी प्राप्त विवेक का अनादर कर बैठता है। जिसके करते ही बेचारा अकर्त्तव्य, असाधन और आसक्तियों में आबद्ध हो जाता है, जो विनाश का मूल है। इस दृष्टि से दु:ख के भय का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

दु:ख का प्रभाव साधक को देहाभिमान से रहित होने

का पाठ पढ़ाता है और दुःख का भय देहाभिमान को पोषित करता है। देह का सदुपयोग भले ही हितकर हो, पर उसका अभिमान तो प्राणियों के विकास में बाधक ही है। देह के अभिमान से देह की वास्तविकता में कोई अन्तर नहीं होता और देहाभिमान-रहित होने से देह के सदुपयोग में कोई बाधा नहीं होती, अपितु देह का सदुपयोग स्वतः होने लगता है। देहाभिमानियों की देह नाश न हो, उसमें सतत् परिवर्तन न हो, ऐसा नियम नहीं है। और देहाभिमान-रहित होने पर देह को जब तक रहना है, वह न रहे, ऐसा भी विधान नहीं है। देह के अभिमान से देहाभिमानी का सर्वनाश होता है और देहाभिमान-रहित होते ही साधक सर्वतोमुखी विकास का पात्र हो जाता है।

दुःख का भय देहाभिमान को पुष्ट करता है। इस कारण दुःख का भय सर्वथा त्याज्य है। दुःख के भय से दुःख घटता नहीं है और न मिटता ही है, अपितु डरने से दुःख दूना हो जाता है और न डरने से आधा रह जाता है। यदि दुःख का प्रादुर्भाव अहितकर होता तो उससे भयभीत होना स्वाभाविक था। परन्तु जब दुःख विकास की भूमि है, तब उससे भयभीत होने का कोई कारण ही नहीं है। दुःख अरुचिकर भले ही हो, पर हितकर अवश्य है। कटु औषधि रोग-निवृत्ति के लिए सेवन करना अनिवार्य है। उसी प्रकार दुःख विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। सुख देकर दुःख लेना महत् पुरुषों का स्वभाव है। अपने दुःख से तो पशु-पक्षी भी दुःखी होते हैं। पर सत्पुरुषों का कोमल हृदय परपीड़ा से पीड़ित होता है। जिससे जीवन में त्याग तथा प्रेम की अभिव्यक्ति होती

है, जिसके होते ही राग-द्वेष निर्मूल हो जाता है। राग-द्वेष रहित जीवन में ही सत्य, अहिंसा आदि की अभिव्यक्ति होती है और फिर साधक वास्तविक जीवन से अभिन्न हो जाता है।

दुःख का प्रादुर्भाव जीवन की यथार्थता का प्रत्यक्ष अनुभव कराने में समर्थ है, जो विकास का मूल है। वर्तमान वस्तुस्थिति का बोध बिना हुए न तो तत्त्व-जिज्ञासा ही जागृत होती है और न प्रेमास्पद की प्रियता की उत्कट लालसा ही उदित होती है। तत्त्व-जिज्ञासा की जागृति में ही कामनाओं की निवृत्ति निहित है और कामनाओं के नाश से ही प्राप्त वस्तु, अवस्था आदि से असंगता होती है। इस दृष्टि से तत्व जिज्ञासा का जागृत होना अनिवार्य है, जो वर्तमान वस्तुस्थिति के बोध में ही निहित है और वह एकमात्र दुःख से ही साध्य है। इस कारण दुःख सर्वदा हितकर ही है। पर दुःख से भयभीत होना, उसका चिन्तन करना, उसके प्रभाव को न अपनाना साधक की असावधानी है।

असावधानी प्राणी को मृत्यु की ओर और सावधानी अमरत्व की ओर अग्रसर करने में समर्थ है। अतः प्रत्येक साधक को असावधानी का शीघ्रातिशीघ्र अन्त करना परम आवश्यक है। वह तभी सम्भव होगा, जब साधक आये हुए दुःख से सजग होकर वर्तमान वस्तुस्थिति का अध्ययन करे, जिसके करते ही जीवन की वास्तविकता का प्रत्यक्ष अनुभव होगा, जो तत्व-जिज्ञासा तथा प्रेमास्पद की प्रियता की माँग जगाने में समर्थ है। तत्व-जिज्ञासा से ही तत्व-साक्षात्कार

होता है और प्रेमास्पद की प्रियता ही प्रेमियों को प्रेमास्पद से अभिन्न करती है।

दुःख का भय तथा दुःख को दबाना दुःख-निवृत्ति में सहायक नहीं है, अपितु बाधक है। दुःख के भय से भयभीत बेचारा दुःखी प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य एवं योग्यता का सदुपयोग नहीं कर पाता और दबा हुआ दुःख कालान्तर में कई गुणा अधिक होकर प्रकट होता है। इस कारण एकमात्र दुःख का प्रभाव ही दुःखी को दुःख-रहित करने में समर्थ है। उत्पन्न हुए संकल्पों की पूर्ति तथा अपूर्ति-युक्त परिस्थितियां प्राकृतिक नियमानुसार स्वतः आती और जाती हैं—यह सभी का निज अनुभव है। जिसको परिस्थितियों के आने और न रहने का अनुभव है, वह परिस्थितियों से अलग है। ममता के कारण अलग होने पर भी बेचारा प्राणी अनुकूलता की दासता तथा प्रतिकूलता के भय में आबद्ध हो जाता है।

गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह विदित होता है कि जब आई हुई अनुकूलता न चाहते हुए भी चली ही जाती है, तो जाने वाली वस्तु की दासता से क्या लाभ? और न चाहते हुए भी प्रतिकूलता आ ही जाती है तो उससे भयभीत होना कुछ अर्थ नहीं रखता। इतना ही नहीं, जो सदैव नहीं रहेगा उसकी दासता और जिसका आना अनिवार्य है उसका भय निरर्थक ही है। अनुकूलता के वियोग तथा प्रतिकूलता के संयोग में व्यथा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। व्यथा का प्रभाव व्यथित को आये हुए दुःख के प्रभाव से प्रभावित कर अनुकूलता की दासता और प्रतिकलता के भय से रहित होने

की प्रेरणा देता है। पर प्रमादवश प्राणी अनुकूलता की उपस्थिति के प्रभाव से जितना प्रभावित होता है, उतना उसकी अनुपस्थिति से नहीं होता। वह दोनों का ज्ञाता है और उपस्थिति एवं अनुपस्थिति दोनों ही अवस्थाएँ हैं।

उपस्थिति की सत्यता उसके व्यक्तित्व में इतनी गहराई से अंकित है कि वह अनुपस्थिति में भी उसका चिन्तन करता रहता है। यह जानते हुए भी कि इसका अस्तित्व नहीं है, प्राणी उससे निराश नहीं होता। उसके मूल में भूल क्या है? इस पर विचार करना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब साधक अनुकूलता के वियोग से उत्पन्न वेदना से और प्रतिकूलता के संयोग से उत्पन्न व्यथा से पीड़ित हो, दोनों अवस्थाओं की अनुपस्थिति का अनुभव अपनाये और सुख की दासता तथा दुःख के भय से रहित हो जाय। तभी उसके ज्ञान और जीवन में एकता होगी। जिसके होते ही सर्वतोमुखी विकास स्वतः हो जाता है, यह निर्विवाद सिद्ध है। उत्पन्न हुई उपस्थिति की अनुपस्थिति अनिवार्य है। यह व्यक्ति का अपना ज्ञान है। इस ज्ञान के प्रकाश में यदि साधक प्राप्त वस्तुओं की ममता और अप्राप्त वस्तुओं की कामना से रहित हो जाय तो अत्यन्त सुगमतापूर्वक अनुत्पन्न हुए नित्य जीवन की जिज्ञासा जागृत होती है, जो वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि से असंग कर अमर जीवन से अभिन्न कर देती है।

प्राणी प्रमादवश, जो अप्राप्त है अथवा जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है, उसका चिन्तन करता है और जो नित्य प्राप्त है उसमें आत्मीयता स्वीकार नहीं करता। इतना ही नहीं,

जिसका वियोग हो गया है उसकी स्मृति का आश्रय लेकर वह दुःख भोगता रहता है और जिससे नित्य-योग हो सकता है उससे विमुख रहता है। इसके मूल में प्रधान कारण दुःख के प्रभाव को न अपनाना ही है। अनुकूलता के वियोग से उत्पन्न व्यथा हमें उत्पन्न हुई वस्तुओं से असंग होने का पाठ पढ़ाने के लिए मंगलमय विधान से मिली थी। पर प्राणी "जो नहीं है" उसका चिन्तन और "जो है" उसकी विस्मृति को अपना कर वास्तविक जीवन से विमुख हो जाता है। यह साधक की अपनी भूल है, जिसका शीघ्रातिशीघ्र अन्त करना अनिवार्य है।

यह कैसा आश्चर्य है कि प्राणी वियोगकाल में भी संयोग-काल की सत्यता, सुन्दरता एवं सुखरूपता के चिन्तन को जीवित रखता है—यह जानते हुए कि न चाहते हुए भी जिस वस्तु, व्यक्ति आदि का वियोग हो गया है, वह अब किसी भी प्रकार मिल नहीं सकता, उसका अस्तित्व अब उस रूप में नहीं है जिस रूप में मिला था और उसका चिन्तन करना किसी भी दृष्टि से हितकर नहीं है, अपितु अहितकर ही है। चिन्तन मात्र से उत्पत्ति-विनाशयुक्त वस्तु की उपलब्धि नहीं होती, यह नियम है। प्रत्येक परिस्थिति विधान से निर्मित है। चिन्तन करने, न करने से उसका संयोग-वियोग नहीं होता। इस कारण "जो नहीं है" उसका चिन्तन सर्वथा त्याज्य है और "जिससे नित्य सम्बन्ध सम्भव नहीं है" उसका वियोग अनिवार्य है। यदि वियोग-काल में उन वस्तुओं का अभाव स्वीकार कर लिया जाय, तो मंगलमय विधान से आया हुआ वियोग नित्य-योग प्रदान कर सकता है। नित्य-योग के बिना

संयोग की दासता तथा वियोग का भय नाश नहीं होता। उसके हुए बिना वास्तविक जीवन से अभिन्नता सम्भव नहीं है।

इस दृष्टि से उत्पन्न हुई वस्तुओं का वियोग बड़े ही महत्व की वस्तु है। पर प्रमादवश प्राणी उनके वियोग को अपनी क्षति तथा अवनति मानता है। इतना ही नहीं, वह अपने को अभागा तथा पापी मान बैठता है। प्राकृतिक विधान के अनुसार प्रत्येक वस्तु का नाश सतत् हो रहा है। उत्पत्ति-विनाश के क्रम में स्थिति केवल आभासमात्र है, उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जिस प्रकार जल प्रवाह-रूप से निरन्तर जा रहा है, पर प्राणी यह मान बैठता है कि वही जल है, जिसे मैं देख रहा हूँ। उसी प्रकार समस्त दृश्य बदल रहा है। इतना ही नहीं, जिन इन्द्रियों के द्वारा दृश्य की प्रतीति हो रही है उन इन्द्रियों की शक्ति का भी सतत् ह्रास हो रहा है। जिस बुद्धि-दृष्टि से इन्द्रिय-दृष्टि में परिवर्तन भासित होता है, वह बुद्धि-दृष्टि भी इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव को खा कर सम हो जाती है और जो अहं-भाव इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि का उपयोग करता है, वह भी प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर अग्रसर हो परम शान्ति के लिये व्याकुल हो उठता है।

इस दृष्टि से भोग्य वस्तु, भोगने की शक्ति और भोक्ता तीनों में ही जातीय एकता एवं गुणों की भिन्नता स्पष्ट सिद्ध होती है। जो इन तीनों का आश्रय और प्रकाशक है, उसी का स्वतन्त्र अस्तित्व है। उसकी तीव्र जिज्ञासा तथा लालसा ही साधक को वास्तविक जीवन से अभिन्न कर सकती है।

परन्तु प्राणी भूतकाल की घटनाओं के अर्थ को न अपनाकर उनका चिंतन करता रहता है, जिससे सत्य की जिज्ञासा तथा अनन्त की लालसा शिथिल हो जाती है। अप्राप्त वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि की कामनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं और प्राप्त वस्तु, व्यक्ति आदि में ममता हो जाती है, जिससे अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं और स्थिरता एव शान्ति सुरक्षित नहीं रहती। जिसके न रहने से प्राणी असमर्थता, पराधीनता, जड़ता अभाव आदि में आबद्ध हो जाता है।

यदि साधक घटनाओं के अर्थ को अपनाकर उन घटनाओं को भूल जाय तो अत्यन्त सुगमतापूवक ममता तथा कामनाओं का नाश हो सकता है, जिसके होते ही निर्विकारता तथा शान्ति की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। निर्विकारता देहाभिमान का नाश कर देती है और शान्ति आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करती है, जिससे साधक साध्य से अभिन्न हो कृतकृत्य हो जाता है। अनुकूलता के वियोग की व्यथा को दबाना नहीं है, अपितु उसको तीव्र होने देना अनिवाय है। वियोग की वेदना ही संयोग में वियोग का दर्शन करा सकती है।

अतः दुःख का प्रभाव ही दुःखी को उससे अभिन्न कर सकता है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। जिसे प्रेमियों ने प्रेमास्पद, जिज्ञासुओं ने तत्वज्ञान एवं दुखियों ने दुःख-निवृत्ति, परम-शान्ति आदि संकेत-भाषा से सम्बोधित किया है, वह प्रत्येक-साधक का "अपना" है। उससे निराश होना भूल है। उसमें आत्मीयता स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है।

"नहीं" में "है" बुद्धि स्वीकार कर उसकी दासता में

आवद्ध होना और जिसकी आवश्यकता है, उससे निराश होना कहाँ तक युक्तियुक्त है ? इस समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। अब यदि कोई व्यक्ति प्रमादवश कहे कि सभी तो साधक नहीं हो सकते। तो यह धारणा भ्रमात्मक है। कारण कि ऐसा मानना कि हमारा कोई साध्य नहीं है, हम पर कोई दायत्व नहीं है, मानव-जीवन की घोर निन्दा है।

प्राकृतिक नियमानुसार, प्रत्येक भाई-बहन साधक हैं। सभी को माँग एक है। परिस्थिति के अनुरूप सभी को अपना दायित्व पूरा करना है। साध्य को भूलना तथा दायित्व को पूरा न करना व्यक्ति की असावधानी है और कुछ नहीं जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। यदि केवल सुख-दुःख भोगने के लिये मानव-जीवन मिला होता, तो साध्य की विस्मृति और दायित्व को पूरा न करना कोई आश्चर्य की बात न होती। परन्तु सुख की दासता और दुःख का भय किसी भी भाई-बहन को रुचिकर नहीं है।

प्रमादवश कोई यह भले ही कहे कि सुख जाये नहीं और दुःख आये नहीं। पर क्या यह सम्भव है ? कदापि नहीं। असम्भव को सम्भव और सम्भव को असम्भव मान बैठना अपने द्वारा अपना सर्वनाश करना है। अतः सुख-दुःख भोगने मात्र के लिए मानव-जीवन नहीं है। वस्तुओं का सदुपयोग एवं व्यक्तियों की सेवा करना अनिवार्य है, पर उनकी दासता में आबद्ध होना असावधानी है। यह सभी का दैनिक अनुभव है कि प्रिय वस्तुओं एवं व्यक्तियों से प्रतिदिन वियोग बिना

अपनाये कोई भी भाई तथा बहन नहीं रह सकते। गहरी नींद तथा समाधि की आवश्यकता सभी अनुभव करते हैं। जाग्रत और स्वप्न में भी उत्पन्न हुए दृश्य का साथ रहता है, पर सुषुप्ति के बिना केवल जाग्रत और स्वप्न-अवस्था से किसी को सन्तोष नहीं होता, अपितु अनेक प्रकार की व्यथा उत्पन्न होती है जो किसी को अभीष्ट नहीं है!

इस दृष्टि से दृश्य से अतीत के जीवन की माँग स्वाभाविक है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति के गोल चक्र में घूमते रहने से स्थायी विश्राम नहीं मिलता, जिसके बिना मिले असमर्थता, पराधीनता और जड़ता ही हाथ लगती है, जो अभीष्ट नहीं है। विश्राम की भूमि में ही उस सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है जो साधक को उस जीवन से अभिन्न कर देती है जिसमें असमर्थता, पराधीनता, नीरसता, अभाव आदि की गन्ध भी नहीं है। इस कारण विश्राम प्राप्त करना अनिवार्य है। पर वह तभी सम्भव होगा जब "नहीं" में नहीं बुद्धि स्वीकार कर "है" की आवश्यकता जागृत हो, जो दुःख के प्रभाव में ही निहित है।

× × ×

असत् को असत् जान लेने पर भी यदि जीवन में दुःख का प्रभाव नहीं है, तो उस जाने हुए असत् का त्याग दुर्लभ हो जाता है। दुःख का अर्थ यह नहीं है कि व्यक्तिगत जीवन में परिस्थिति-जनित दुःख ही दुःख है, प्रत्युत् निजविवेक के प्रकाश में बुद्धि-दृष्टि से सुख में भी दुःख का दर्शन होता है। कारण कि सुख का सम्पादन पराधीनता को स्वीकार किये बिना

किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से साधक को प्रत्येक परिस्थिति में एकमात्र दुःख का ही दर्शन होता है। दुःख के दर्शन-मात्र से सुख की आशा और उसका प्रलोभन एवं सुख-भोग की रुचि शेष नहीं रहती और फिर अपने आप जीवन का मौलिक प्रश्न जागृत होता है। मौलिक प्रश्न से निराश होना और उसके हल करने में हार स्वीकार करना साधक की असावधानी है।

मौलिक-प्रश्न कहते ही उसको हैं, जिसकी पूर्ति अनिवार्य हो। परिस्थिति-भेद से प्रश्न के बाह्य रूप में अनेक भेद हो सकते हैं। व्यथाओं से घिरा हुआ व्यक्ति कहेगा, "मेरे दुःख की निवृत्ति हो"। अशान्ति से पीड़ित कहेगा, "मुझे चिर-शान्ति चाहिए।" सन्देह की वेदना से व्यथित प्राणी कहेगा, "मुझे निस्सन्देहता चाहिए।" असमर्थ कहेगा, "मुझे सामर्थ्य चाहिए।" पराधीन कहेगा, "मुझे स्वाधीनता चाहिए।" जड़ता से थका हुआ प्राणी कहेगा, "मुझे चेतना चाहिए" इत्यादि। बाह्यरूप अनेक होने पर भी मौलिक प्रश्न एक ही है। कोई कोई साधक ऐसा कहेगा कि मुझे ऐसा सुख चाहिए, जिसमें दुःख न हो।

दुःख-रहित सुख, भय रहित शान्ति और पराधीनता-रहित अनुकूलता की माँग प्राणियों में रहती ही। दुःख का प्रभाव इन सभी प्रश्नों को हल करने में समर्थ है। उसका आश्रय जो अविनाशी नहीं है, वह प्रवृत्ति जो सर्व-हितकारी नहीं है, वह निवृत्ति जो अभिमान-शून्य नहीं है, साधक के मूल प्रश्न के हल करने में बाधक है।

अब यदि कोई कहे कि जब हमें अविनाशी का ज्ञान ही नहीं है, उसमें आस्था ही नहीं है, तो हम उसके आश्रित कैसे हो सकते हैं ? तो इस समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि अविनाशी का बोध न होने पर भी जो नाशवान् है, अर्थात् न रहने वाला है उसका आश्रय तो सुरक्षित रह ही नहीं सकता। अतः यदि किसी को अविनाशी में आस्था नहीं है, तो निराश्रयता को अपनाकर जिसका आश्रय नहीं लेना चाहिए उससे मुक्त हो सकता है। उससे मुक्त होते ही स्वतः अविनाशी का बोध हो जाता है, यह अनुभव-सिद्ध है।

अतः अविनाशी में आस्था तथा उसका बोध न होने पर भी विनाशी का आश्रय त्यागकर प्रत्येक साधक अविनाशी से अभिन्न हो सकता है। विनाशी के आश्रय के त्याग की सामर्थ्य दुःख के प्रभाव में ही निहित है। यह कैसी विडम्बना है कि जिसका त्याग स्वतः हो रहा है, उसके त्याग में भी असमर्थता प्रतीत होती है ? इस असमर्थता के मूल में छिपी हुई सुख-लोलुपता है, जो एकमात्र दुःख के प्रभाव से ही मिटती है। अल्पकाल की सुखद अनुभूति के लिए दीर्घकाल तक दुःख भोगते रहना कहाँ तक युक्ति-युक्त है ? इतना ही नहीं, सुखद अनुभूति उसी क्षण में होती है जिस क्षण में निष्कामता उदित होती है।

कामना-निवृत्ति से निष्कामता की अभिव्यक्ति स्थायी रूप से होती है और कामना पूर्ति काल में निष्कामता अल्प-काल के लिये स्वतः आती है। प्राणी प्रमादवश उस सरस

अनुभूति को वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि के आश्रित मान बैठता है। उसका भयंकर परिणाम यह होता है कि नवीन कामना उत्पन्न हो जाती है और बेचारा प्राणी पुनः उसी व्यथा से व्यथित होने लगता है, जो कामना-उत्पत्ति के पूर्व और पूर्ति के पश्चात् थी। यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार कामना-उत्पत्ति से पूर्व जो स्थिति है, कामना पूर्ति के अन्त में अल्पकाल के लिए वही स्थिति आती है, परन्तु साधक सजगतापूर्वक अपने को उस अनुभव से अभिन्न नहीं करता, अर्थात् निज अनुभव का अनादर करता है। यह उसकी जड़ता तथा असावधानी है।

साधक के जीवन में जड़ता तथा असावधानी के लिए कोई स्थान ही नहीं है। असह्य वेदना जड़ता तथा असावधानी को खाकर निज अनुभव से अभिन्न कर देती है और फिर लेशमात्र भी नाशवान-परिवर्तनशील वस्तु, अवस्था आदि का आश्रय नहीं रहता। पर उनका सदुपयोग स्वतः होने लगता है। परिस्थिति के सदुपयोग में विकास और उसके आश्रय में सर्वनाश निहित है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

प्राकृतिक नियमानुसार, प्रत्येक प्रवृत्ति का आरम्भ और अन्त है। ऐसी कोई प्रवृत्ति है ही नहीं, जिसका आरम्भ हो और अन्त न हो। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि कोई भी प्रवृत्ति अखण्ड नहीं हो सकती। जो अखण्ड नहीं हो सकतो, वह सहयोगी साधन भले ही हो, उसे साध्य नहीं कह सकते। इस दृष्टि से प्रत्येक प्रवृत्ति निवृत्ति की पोषक है। जिस प्रवृत्ति का परिणाम निवृत्ति नहीं है, वह प्रवृत्ति दूषित है, त्याज्य है।

व्यक्तिगत सुख की आशा को लेकर जो प्रवृत्ति आरम्भ होती है. उसका परिणाम निवृत्ति नहीं होता, प्रत्युत् प्रवृत्ति के अन्त में भी प्रवृत्ति की ही रुचि शेष रहती है। यद्यपि प्रत्येक प्रवृत्ति से प्राप्त सामर्थ्य का व्यय ही होता है, तथापि दूषित प्रवृत्तियों की रुचि असमर्थता में भी बनी रहती है। उस दशा में प्राणी जो नहीं कर सकता है तथा जो नहीं करना चाहिए, उसी के चिंतन में आवद्ध हो जाता है। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि प्राणी उत्तरोत्तर चेतना से विमुख हो जड़ता में ही आवद्ध होता जाता है, जो विनाश का मूल है। असमर्थता-काल में प्रवृत्ति की रुचि प्राणी को पराधीनता-जनित पीड़ा में आवद्ध करती है, जो किसी को भी स्वभाव से प्रिय नहीं है।

यदि पराधीनता-जनित वेदना से पीड़ित प्राणी प्रवृत्ति की रुचि का नाश कर दे, तो अत्यन्त सुगमतापूर्वक सहज निवृत्ति को अपनाकर असमर्थता का अन्त कर सकता है। फिर अपने आप सर्वहितकारी प्रवृत्ति आरम्भ होती है, जो कर्त्ता को करने के राग से रहित करने में हेतु है। इस कारण प्रवृत्ति वही सार्थक है, जो किसी के लिये अहितकर न हो, अपितु सर्वहितकारी हो। सर्वहितकारी प्रवृत्ति सीमित होने पर भी असीम है। कारण, कि उसका अन्त सर्वहितकारी भावना में ही होता है। प्राकृतिक नियमानुसार कर्म सीमित और भाव असीम होता है। सर्व हितकारी प्रवृत्ति असीम सद्भावनाओं में सजीवता लाती है और सद्भावनाएँ सर्व-हितकारी प्रवृत्ति को पुष्ट बनाती हैं। सर्वहितकारी प्रवृत्ति कितनी हो अल्प क्यों न हो, कर्त्ता को विभुता से अभिन्न करती

है, अर्थात् सर्वहितकारी प्रवृत्ति के अन्त में कर्त्ता करने के राग से रहित हो असीम जीवन से अभिन्न हो जाता है।

इस दृष्टि से सर्वहितकारी प्रवृत्ति बड़े ही महत्व की वस्तु है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति के अन्त में अपने आप आने वाली सहज निवृत्ति आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करती है। ज्यों-ज्यों प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय होता जाता है, त्यों-त्यों आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति स्वतः होती रहती है अर्थात् सर्व हितकारी कार्य के लिए सामर्थ्य विधान से बिना ही माँगे मिलती है।

सुख-भोग की रुचि का सर्वांश में नाश हुए बिना सर्व-हितकारी प्रवृत्ति स्वभावतः नहीं होती। पर जब दुःख का प्रभाव सुख-भोग की रुचि का नाश कर देता है, तब सर्वहित-कारी प्रवृत्ति स्वतः होने लगती है। आत्मख्याति तथा लोक-रंजन की कामना से प्रेरित सर्वहितकारी प्रवृत्ति वास्तव में सर्वहितकारी नहीं है अपितु मान तथा भोग की जननी है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। कारण, कि मान तथा भोग में आबद्ध प्राणी देहाभिमान से रहित नहीं हो पाता, जिसके बिना हुए किसी के भी मौलिक प्रश्न हल नहीं हो सकते। इस दृष्टि से मान तथा भोग की रुचि का अन्त करना अनिवार्य है, जिसके होते ही प्रत्येक परिस्थिति में सर्व-हितकारी प्रवृत्ति द्वारा प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय होने लगता है जो विकास का मूल है।

सर्व हितकारी प्रवृत्ति के अन्त में अथवा कामरहित होने पर मंगलमय विधान से जो निवृत्ति स्वतः आती है, वही

वास्तविक निवृत्ति है। संकल्पपूर्वक जिस निवृत्ति का सम्पादन किया जाता है, वह निवृत्ति होने पर भी घोर प्रवृत्ति ही है। कामरहित हुए बिना बलपूर्वक जो निवृत्ति प्राप्त की जाती है, वह साधक को अभिमान-शून्य नहीं होने देती, जिसके बिना हुए साधन-रूप निवृत्ति की अभिव्यक्ति नहीं होती, अपितु अभिमानयुक्त निवृत्ति व्यक्तित्व के मोह का ही पोषण करती है और परस्पर भेद उत्पन्न कर देती है, जो विनाश का मूल है। अभिमान-शून्य निवृत्ति शान्ति, सामर्थ्य तथा स्वाधीनता की जननी है और अभिमानयुक्त निवृत्ति आंशिक शक्ति भले ही प्रदान करे, पर शान्ति तथा स्वाधीनता का तो विनाश ही करती है।

इस कारण अभिमानरहित निवृत्ति ही वास्तविक निवृत्ति है। उसी की अभिव्यक्ति साधक के मौलिक प्रश्नों के हल करने में हेतु है प्रवृत्ति और निवृत्ति दायें-बायें पैर के समान हैं। इन दोनों से ही साधक सत्पथ पर आरूढ़ होता है, परन्तु स्वार्थभाव से उत्पन्न प्रवृत्ति और अभिमानयुक्त निवृत्ति तो प्राणियों को सत्पथ से विमुख ही करती है।

प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक प्रवृत्ति के आदि और अन्त में निवृत्ति स्वतः सिद्ध है। जो तथ्य स्वतः सिद्ध है, उसकी खोज की जाती है, उसको उत्पादित नहीं किया जाता। अतः साधन-रूप निवृत्ति की खोज करना है तथा उससे अभिन्न होना है, उसको उत्पन्न नहीं करना है। उत्पत्ति-विनाश तो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। प्रत्येक उत्पत्ति विनाश में और विनाश उत्पत्ति में विलीन होता रहता है।

सहज निवृत्ति स्वतः प्राप्त होती है। परन्तु उसके लिए प्रत्येक साधक को कामरहित होना अनिवार्य है, जो दुःख के प्रभाव से ही साध्य है। प्रभाव कृत्रिम नहीं है, अपितु स्वतः होता है।

जब साधक मौलिक प्रश्नों को हल किये बिना रह नहीं सकता, तब आयी हुई असमर्थता तथा व्यथा का प्रभाव अपने आप होता है, जिसके होते ही उसका त्याग स्वतः हो जाता है, जिसकी उपलब्धि किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है और उसकी उत्कट लालसा जागृत होती है, जिसकी प्राप्ति सम्भव है। अर्थात् कामनायें मिट जाती हैं और मौलिक समस्यायें स्वतः हल हो जाती हैं। पर यह तभी सम्भव होगा, जब साधक सर्वहितकारी प्रवृत्ति के द्वारा अथवा प्राप्त की ममता और अप्राप्त की कामना से रहित होकर सहज निवृत्ति सुरक्षित रखने का अथक प्रयास करे, जो विवेक-सिद्ध है।

दुःख का प्रभाव प्राप्त विवेक के आदर में हेतु है। सुख के प्रलोभन से ही प्राणी निज-विवेक का अनादर कर अपना सर्वनाश कर बैठता है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। अर्थात् प्रत्येक साधक के लिए निजविवेक का अनादर सर्वथा त्याज्य है, जो असह्य वेदना से ही सम्भव है।

\+ \+ \+

दुःखरहित सुख, भयरहित शान्ति एवं पराधीनता-रहित अनुकूलता की माँग प्राणी मात्र में स्वभाव से है। प्राकृ-

तिक नियमानुसार सुखद अनुभूति के आदि और अन्त में दुःख का भास होता है। यदि सुख का अन्त दुःख, में होता न तो सुख जीवन का लक्ष्य हो सकता था, पर ऐसा किसी का अनुभव नहीं है। उस पर भी सुख में कितनी मधुरिमा है कि उसका आकर्षण, यह जानते हुए भी कि अन्त में दुःख ही दुःख शेष रहता है, सुख के प्रलोभन को जीवित रखता है। इसी कारण प्राणी में सहज भाव से यह कल्पना होती है कि यदि दुःखरहित सुख मिलता तो बड़ा ही अच्छा होता। यदि दुःखरहित सुख का अर्थ सुख-दुःख से अतीत का जीवन स्वीकार कर लिया जाये, तब तो यह माँग पूरी हो सकती है, किन्तु कामना-पूर्ति-जनित सुखद अनुभूति को ही सुख के अर्थ में लिया जाये, तो दुःख रहित सुख की कल्पना भ्रममूलक है। कारण, कि जब सुख का भास दुःख से ही होता है, तब परिणाम में दुःख ही रहेगा। अतः दुःख रहित सुख का अर्थ सुख-दुःख से अतीत के जीवन से अभिन्नता ही उपयुक्त है। इस मांग की पूर्ति हो सकती है। कब ? जब दुःख का प्रभाव सुखद अनुभूति में दुःख का दर्शन कराने में समर्थ हो ज ये, जो सम्भव है।

सम्भव को असम्भव और असम्भव को सम्भव मानना भूल है। जो सम्भव है, उसकी उत्कट लालसा ही उसकी प्राप्ति में मुख्य हेतु है। इस दृष्टि से सुख-दुःख से अतीत के जीवन की उत्कट लालसा का जागृत करना ही साधक का परम पुरुषार्थ है। दुःख का प्रभाव ही कामनाओं का नाश करने में और उत्कट लालसा जगाने में हेतु है। दुःखी की सबसे बड़ी भूल यही है कि वह आये हुए दुःख से भयभीत होता है दुःख को भोगता रहता है, पर दुःख के प्रभाव को

नहीं अपनाता, जिसके बिना अपनाये दुःख का सर्वांश में अन्त किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। मंगलमय विधान से दुःख का प्रादुर्भाव दुःखियों के दुःख का नाश करने के लिए ही हुआ है। उससे भयभीत होना साधक की अपनी कायरता है, जिसका विकासोन्मुख जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

+ × ×

सुख, शान्ति सभी को स्वभाव से ही प्रिय है। परन्तु सुख-सामग्री के आश्रित शान्ति भयरहित शान्ति नहीं है। भययुक्त-शान्ति शान्ति का आभास मात्र है, शान्ति नहीं। अर्थात् भययुक्त शान्ति अशान्ति की जननी है और कुछ नहीं। साधक की माँग भय रहित शान्ति की है, जिसकी उपलब्धि किसी परिस्थिति पर निर्भर नहीं है। वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि से सम्पादित बल के द्वारा अपनी शान्ति को सुरक्षित रखने का प्रयास भ्रममूलक है। कारण, कि बल का उपयोग समान बल पर अथवा अधिक बल पर नहीं हो सकता, अपितु निर्बलों के प्रति ही होता है। यह प्राकृतिक नियम है कि बल के दुरुपयोग से कालान्तर में सबल स्वयं निर्बल हो जाता है।

इतना ही नहीं, उसकी विरोधी सत्ता की उत्पत्ति भी हो जाती है और वही दुर्दिन उसे स्वयं देखने पड़ते हैं, जो उसने बल के दुरुपयोग के द्वारा निर्बलों को दिखाये थे। बल के सदुपयोग से परस्पर एकता होती है और फिर सबल तथा निर्बल का भेद शेष नहीं रहता। पर बल का सदुपयोग तभी सम्भव है, जब सबल निर्बलों के दुःख से दुःखी हो करुणित हो जाये और दुःखी सुखियों को देख प्रसन्न हो जाये।

यह सभी को विदित है कि सर्वांश में कोई भी देश, वर्ग, समाज एवं व्यक्ति सबल तथा निर्बल नहीं है। आंशिक बल तथा निर्बलता सभी में है। व्यक्ति जिस अंश में सबल है, उस अंश में किसी निर्बल को देख करुणित हो और जिस अंश में निर्बल है, उस अंश में किसी सबल को देख प्रसन्न हो, तो परस्पर की भिन्नता एकता में परिवर्तित हो जाती है, जिसके होते ही भयरहित शान्ति का प्रादुर्भाव होता है। इस दृष्टि से दुःखियों को देख करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न होना प्रत्येक देश, वर्ग, समाज एवं व्यक्ति के लिए अनिवार्य है और यही सर्वोत्कृष्ट सेवा है। सेवा की सजीवता तथा पूर्णता त्याग में निहित है, अर्थात् जब तक प्रत्येक भाई-बहन मिली हुई वस्तुओं की ममता का अन्त नहीं करेंगे और प्राप्त वस्तुओं की कामना से रहित नहीं होंगे, तब तक प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता, आदि का सद्व्यय सम्भव नहीं है। कारण, कि ममता एवं कामना ने ही दो व्यक्तियों, वर्गों, देशों आदि में भेद उत्पन्न कर संघर्ष का पोषण किया है। भेद रहते हुए केवल बाह्य सामग्री के सम्पादन मात्र से कोई भी भयरहित शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता. अपितु सेवा और त्याग के बिना वह स्वयं सबल से भयभीत होगा और निर्बलों को भयभीत करता रहेगा जो अशान्ति का मूल है।

सेवा और त्याग को सजीव बनाने में एकमात्र प्रेम ही मूल तत्त्व है। इस कारण प्रेम के साम्राज्य की स्थापना सभी के लिए अत्यन्त आवश्यक है। उसके लिए प्रत्येक भाई-बहन को भौतिकवाद की दृष्टि से शरीर और विश्व की एकता स्वीकार करना अनिवार्य है। कारण, कि किसी भी प्रकार

शरीर और विश्व का विभाजन सम्भव नहीं है। जिस प्रकार प्रत्येक प्राणी को अपने शरीर की रक्षा अभीष्ट है, उसकी क्षति प्रिय नहीं है, उसी प्रकार सभी की रक्षा अभीष्ट हो और किसी की क्षति अपने को सहन न हो, तभी वास्तविक भौतिकवाद सिद्ध हो सकता है। ममता और कामना को जीवित रखना और अपने-अपने सुख सुरक्षित रखने में लगा रहना भौतिकवाद नहीं है, अपितु संघर्षवाद, विनाशवाद और भोगवाद है, जो सर्वदा सभी के लिए अहितकर है।

'शरीर विश्व के काम आ जाये", इसके अतिरिक्त अपना और कोई उद्देश्य न रहे, तभी भौतिकवाद की दृष्टि से प्रेम के साम्राज्य की स्थापना हो सकती है। अध्यात्मवाद ने मानव समाज को सर्वात्मभाव का पाठ पढ़ाया है अर्थात् निज-स्वरूप से भिन्न कुछ है ही नहीं, समस्त विश्व अपनी ही एक अवस्था मात्र है और कुछ नहीं है। इस दृष्टि से अध्यात्मवाद के द्वारा भी प्रेम के साम्राज्य की स्थापना हो सकती है। कारण, कि अपने में अपनी प्रियता स्वाभाविक है। प्रियता की जागृति परस्पर भेद, भिन्नता, संघर्ष आदि के नाश में हेतु है। जगत् और उसका प्रकाशक अपना ही निज स्वरूप है; अपने से भिन्न की सत्ता ही नहीं है, यही अध्यात्मवाद की एकता है। जगत् को मिथ्या कहना मात्र ही अध्यात्मवाद नहीं है, प्रत्युत् भेद और भिन्नता का अत्यन्त अभाव ही अध्यात्मवाद है।

आस्तिकवाद ने प्रेमास्पद से भिन्न में आस्था, श्रद्धा तथा विश्वास ही नहीं किया और प्रेमास्पद की आत्मीयता

को ही अपना सर्वस्व माना और उन्हीं के नाते निष्काम भाव से विश्व की सेवा की। इतना ही नहीं, उसने समस्त विश्व में प्रेमास्पद की अनुपम लीला का ही दर्शन किया। आस्तिकवाद प्रीति और प्रियतम से भिन्न को जानता ही नहीं, प्रत्युत् प्रीति से अभिन्न होकर अनेक रूपों में प्रीतम को लाड़ लड़ाने का पाठ आस्तिकवाद ने पढ़ाया है। इस कारण आस्तिकवाद ने भी प्रेम के साम्राज्य की ही स्थापना की है। भय-रहित शान्ति की अभिव्यक्ति सेवा, त्याग तथा प्रेम में ही निहित है। परन्तु जब तक साधक दुःख के प्रभाव से प्रभावित नहीं होता, तब तक जीवन में सेवा, त्याग तथा प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती। इस दृष्टि से सर्वतोमुखी विकास दुःख के प्रभाव में ही निहित है।

पराधीनता-रहित अनुकूलता मानव मात्र को स्वभाव से ही प्रिय है। परन्तु यदि अनुकूलता का अर्थ कामना-पूर्ति-जनित सुख को सुरक्षित रखना है, तब तो पराधीनता-रहित अनुकूलता की कल्पना विडम्बना मात्र है। जो अनुकूलता प्रतिकूलता में परिवर्तित होती है, उसे अनुकूलता मानना क्या भूल नहीं है? वास्तविक अनुकूलता वही है, जिसमें सभी प्रतिकूलताएँ विलीन हो जाएँ और वह सर्वदा अखण्ड रूप से ज्यों-की-त्यों अविचल रहे। इसके अतिरिक्त अनुकूलता का कोई और अर्थ स्वीकार करना अनुकूलता के नाम पर प्रतिकूलता को पोषित करना है। पराधीन हुए बिना कोई भी प्राणी कामना-पूर्ति जनित सुख का सम्पादन नहीं कर सकता। इस दृष्टि से सुख के भोगी को पराधीन होना ही पड़ता है और परिणाम में दुःख ही हाथ लगता है, जो स्वभाव से किसी को अभीष्ट नहीं है।

सुख की आशा में दुःख भोगते रहना भले ही किसी को सहन हो, परन्तु परिणाम में दुःखी होना सभी को असह्य है। इसी कारण पराधीनता-रहित अनुकूलता की माँग स्वभाव से ही जागृत होती है, जिसकी पूर्ति अवश्यम्भावी है। उत्पन्न हुए संकल्पों से तादात्म्य स्वीकार कर प्राणी उनकी पूर्ति में पराधीनता-युक्त अनुकूलता को अपनाता है और देश, काल, वस्तु व्यक्ति, अवस्था आदि के अधीन हो जाता है। जिसके अधीन होकर प्राणी संकल्प-पूर्ति का सुख भोगता है, उसको सर्वदा सुरक्षित रखने में वह स्वाधीन नहीं है। इस कारण संकल्प-पूर्ति की उपयुक्त परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना कुछ अर्थ नहीं रखता। अतः पराधीनता-रहित जीवन ही जीवन है।

यह सभी को विदित है कि संकल्प-पूर्ति की सुखानुभूति जाग्रत और स्वप्नावस्था में ही सम्भव है। परन्तु उस सुख का भोग अखण्ड रूप से न तो किसी प्राणी को रुचिकर ही है और न किसी परिस्थिति में सम्भव ही है। जिस प्रवृत्ति से अरुचि होती है, वह प्रवृत्ति वास्तविक जीवन नहीं है। जीवन में तो सर्वदा उत्तरोत्तर नित-नव-प्रियता की ही वृद्धि होती है। जो रुचिकर भी न हो और सम्भव भी न हो, उससे उपरति अपने आप होती है। इसी कारण प्राणी जाग्रत तथा स्वप्नावस्था से सुषुप्ति को अधिक महत्त्व देता है। प्रिय से प्रिय वस्तु तथा व्यक्ति का त्याग गहरी नींद के लिए भला किसने नहीं किया? इस दृष्टि से संकल्प-पूर्ति की अपेक्षा संकल्प का लय अधिक महत्व की वस्तु है। सुषुप्ति में संकल्पों का लय प्राकृतिक नियम से होता है, उसे कोई भी प्राणी अपने आप प्राप्त नहीं कर सकता।

औषधियों के द्वारा सुषुप्तिवत् अवस्था प्राप्त की जाती है, किन्तु वह सुषुप्ति प्राकृतिक सुषुप्ति के समान नहीं होती। सर्वांश में सुषुप्ति अवस्था प्राप्त करना व्यक्ति के अधीन नहीं है। इस दृष्टि से सुषुप्ति में भी पराधीनता रहती है।

जाग्रत और स्वप्नावस्था की अपेक्षा सुषुप्ति अधिक सुखदायक है। उसमें विषमता का दर्शन नहीं है और सुखानुभूति के साथ-साथ जाग्रत और स्वप्न के समान दुःखानुभूति भी नहीं है, अर्थात् जाग्रत और स्वप्न में दुःख और सुख दोनों का भास है, पर सुषुप्ति में दुःख का भास नहीं है। फिर भी जड़ता और पराधीनता से रहित सुषुप्ति भी नहीं है।

यदि साधक विवेकपूर्वक परिस्थिति के अनुकूल आवश्यक संकल्पों को कर्त्तव्य बुद्धि से पूरा कर, अनावश्यक संकल्पों को त्याग, निर्विकल्पता प्राप्त करे, तो उसे जाग्रत अवस्था में ही सुषुप्ति के समान दुःख-निवृत्ति का दर्शन होगा और जड़ता तथा पराधीनता का अन्त हो जायेगा। अतएव सुषुप्ति की अपेक्षा निःसंकल्पता अधिक महत्व की वस्तु है। परन्तु निर्विकल्पता-जनित शान्ति में रमण करना भी तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म पराधीनता ही है। निर्विकल्पता-जनित शान्ति का सम्पादन अनिवार्य है। कारण कि उसके बिना साधक वास्तविक स्वाधीनता की ओर अग्रसर ही नहीं हो सकता। निर्विकल्पता-जनित शान्ति से स्वाधीनता का पुजारी विवेकपूर्वक असंग हो सकता है।

शान्ति स्वभाव से ही सामर्थ्य की जननी है। इस कारण शान्ति का प्रादुर्भाव होने पर साधक उससे असंग हो सकता है,

जिसके होते ही स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश होता ही है, यह अनन्त का मंगलमय विधान है। विधान के अधीन प्राणी स्वाधीन है, पराधीन नहीं। कारण, कि विधान सभी के लिए सर्वदा हितकर होता है। उससे किसी का अहित नहीं होता। इतना ही नहीं, विधान और जीवन में एकता होती है। इस दृष्टि से विधान की अधीनता में स्वाधीनता है, पराधीनता नहीं। स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश अनिवार्य है। परन्तु उसमें सन्तुष्ट हो, अहं-भाव-रूपी अणु को जीवित रखना पराधीनता के सूक्ष्मातिसूक्ष्म बीज का पोषण करना है। इस कारण स्वाधीनता में सन्तुष्ट रहने की अभिरुचि का नाश करना अनिवार्य है।

× × ×

जिसके मंगलमय विधान से प्राणी उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर होता है, उसकी आत्मीयता स्वीकार करना अहं-भाव को प्रीति में परिणित कर देना है। किन्तु विश्राम तथा स्वाधीनता के बिना आत्मीयता सजीव नहीं होती, अर्थात् जो कुछ भी चाहता है वह किसी से वास्तविक आत्मीयता नहीं कर सकता और जो किसी भी वस्तु, अवस्था आदि में ममता रखता है, वह भी किसी को अपना नहीं बना सकता। आत्मीयता के बिना अगाध, अनन्त, नित-नव-प्रियता की जागृति किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से पराधीनता-रहित अनुकूलता प्रियता की जागृति में निहित है।

अपना संकल्प रखते हुए कोई भी प्रियता से अभिन्न नहीं हो सकता, यह नियम है। अतः जब साधक दुःख के प्रभाव

से प्रभावित हो, सुख की दासता से रहित होता है, तब वह अपने संकल्प को विश्व के संकल्प में विलीन कर सकता है, जिसके करते ही अकर्त्तव्य का नाश और कर्त्तव्य-परायणता की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। फल की आशा से रहित कर्त्तव्य-पालन पराधीनता-रहित अनुकूलता से अभिन्न करता है अथवा साधक सर्व संकल्पों को त्याग, विवेक-पूर्वक अवस्थातीत जीवन से अभिन्न होकर स्वाधीनता पाता है, जिससे जीवन अपने लिए उपयोगी होता है अथवा अपने संकल्पों को सर्व के आश्रय तथा प्रकाशक के संकल्प में विलीन करने पर भी साधक स्वाधीन हो प्रेम का अधिकारी हो जाता है। प्रेम का प्रादुर्भाव होने पर पराधीनता-रहित अनुकूलता स्वतः प्राप्त होती है। कारण कि प्रेम अनन्त का स्वभाव और प्रेमी का जीवन है।

अतः पराधीनता-रहित अनुकूलता के लिए यह अनिवार्य है कि अपना कोई संकल्प न रहे। प्रत्येक साधक अपनी-अपनी रुचि, योग्यता एवं सामर्थ्य के अनुसार संकल्प-रहित होने के लिए अधिकार-लालसा से रहित हो अपने संकल्पों को विश्व के संकल्प में विलीन करे अथवा विवेक-पूर्वक देहाभिमान रहित हो सर्व-संकल्पों से असंग हो जाय अथवा आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक शरणागत हो अनन्त के संकल्प में अपने संकल्पों को विलीन कर आत्मीयता-पूर्वक प्रीति से अभिन्न हो जाय। पर यह तभी सम्भव होगा, जब पराधीनता-जनित वेदना असह्य हो जाय; किसी भी मूल्य पर पराधीनता और परिच्छिन्नता सहन न कर सके। पराधीनता का सर्वांश में नाश करना सभी साधकों के लिए अनिवार्य है, जो दुःख के प्रभाव से ही साध्य है।

उपसंहार

दुःख का भय तथा भोग प्राणियों को सुख की दासता में आबद्ध कर जड़ता एवं पराधीनता से युक्त कर देता है, जो किसी भी साधक को स्वभाव से अभीष्ट नहीं है। परन्तु दुःख का प्रभाव व्यक्ति को सजगता प्रदान करता है, जिससे साधक को जड़ता तथा पराधीनता असह्य हो जाती है अर्थात् वह वर्तमान वस्तुस्थिति से भली भाँति परिचित हो जाता है। प्राकृतिक नियमानुसार, प्रत्येक परिस्थिति सुख तथा दुःख से युक्त है। सजगता सुख की दासता तथा दुःख के भय से रहित होने के लिए प्रेरित करती है।

इस दृष्टि से सजगता विकास की भूमि है। सुख की दासता करुणा और दुःख का भय प्रसन्नता का अपहरण कर लेता है। परन्तु जब सजगता साधक को सुख की दासता में आबद्ध नहीं रहने देती तब वह दुःखियों को देख करुणित हो उठता है, जिसके होते ही सुख का प्रलोभन शेष नहीं रहता, अपितु प्राप्त सुख-सामग्री दुःखियों की धरोहर हो जाती है। सजगता दुःखी को दुःख के भय से रहित कर दुःख के प्रभाव से प्रभावित करती है।

दुःख का प्रभाव परस्पर भेद तथा भिन्नता का अन्त करने में समर्थ है। भेद तथा भिन्नता का अन्त होते ही साधक के जीवन में उदारता की अभिव्यक्ति होती है जिसके होते ही

साधक दुःखियों को देख करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न होने लगता है। करुणा सुख-भोग की रुचि को खाकर प्राप्त सुख के सद्व्यय में साधक को प्रवृत्त कर देती है और प्रसन्नता नीरसता का अन्त कर साधक को निष्काम बना देती है।

इस दृष्टि से उदारता की अभिव्यक्ति विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है, जो एकमात्र सजगता से ही साध्य है। इतना ही नहीं, सजगता ही जीवन की जननी है और असावधानी ही मृत्यु है। असावधानी के समान और कोई भारी भूल नहीं है। ऐसी कोई अवनति तथा ह्रास नहीं है, जिसके मूल में असावधानी न हो। असावधानी कोई प्राकृतिक दोष नहीं है, अपितु साधक का अपना ही बनाया हुआ दोष है। इस कारण उसका अन्त करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब साधक दुःख के प्रभाव से प्राप्त सजगता को सुरक्षित रखे।

सजगता एक अलौकिक प्रकाश है जो असावधानी रूपी अन्धकार के नष्ट करने में समर्थ है। सजगता किसी कर्म का फल नहीं है, अपितु अनन्त की अनुपम देन है। सजगता का प्रभाव सर्वांश में और असावधानी आंशिक होती है। यद्यपि आंशिक सावधानी मानव मात्र में रहती ही है, परन्तु उसे सजगता मानना मिथ्या गुण के अभिमान में अपने को आबद्ध करना है, जो वास्तव में जड़ता है।

सजगता आते ही आंशिक असावधानी सदा के लिए नष्ट हो जाती है और फिर आंशिक गुणों के अभिमान की उत्पत्ति नहीं होती। यह नियम है कि गुणों के अभिमान में ही

आंशिक दोष पोषित होते रहते हैं। इस कारण गुणों का अभिमान दोषों का मूल है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। दुःख का प्रभाव दोष-जनित वेदना जागृत कर सजगता प्रदान करता है। अतः दुःख के प्रभाव में ही सजगता निहित है।

सजगता से प्राप्त उदारता साधक को हृदयशील बना देती है। हृदयशीलता की अभिव्यक्ति होते ही साधक किसी को न तो बुरा ही समझता है और न किसी का बुरा ही चाहता है और न उसमें बुराई करने की सामर्थ्य ही रहती है। प्राकृतिक नियमानुसार, दोष के नाश में ही दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति निहित है। बुराई को बुराई जानकर बुराई न करना कोई महत्त्व की बात नहीं है। बुराई की उत्पत्ति ही न हो, यही वास्तव में बुराई से रहित होना है। बलपूर्वक बुराई को न करना बीज रूप से बुराई को सुरक्षित रखना है, वह कभी भी वृक्ष के रूप में परिणित हो सकती है। इस कारण बुराई के बीज का नाश अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब सजगतापूर्वक प्राप्त उदारता सुरक्षित रहे। उदारता को सुरक्षित बनाए रखने के लिये, "वर्तमान सभी का निर्दोष है," इस महामन्त्र को अपना लेना अनिवार्य है। उदारता से उदित निष्कामता में ही असंगता निहित है।

प्रसन्न हने के लिये किसी अभ्यास विशेष की अपेक्षा नहीं है, प्रत्युत् सहज निष्कामता अनिवार्य है। सभी अभ्यास शरीर से तद्रूप होने पर ही होते हैं। जिससे असंग होना है, उसी का आश्रय लेना युक्तियुक्त नहीं है। निष्कामता आते ही

स्वतः असंगता आती है। कारण कि काम ही संग में हेतु है। इस दृष्टि से निष्काम हुए बिना असंगता किसी भी अभ्यास से साध्य नहीं है। असंगता का चिन्तन असंगता की उत्कट लालसा की जागृति में भले ही हेतु हो, किन्तु निष्कामता के बिना असंगता प्राप्त नहीं होती। असंगता के बिना निर्वासना नहीं आती और उसके बिना स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता, जो जीवन की माँग है।

पराधीनता सहन करते रहना ही जड़ता में आबद्ध होना है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। पराधीनता असह्य हो जाय तभी निष्कामता-पूर्वक असंगता प्राप्त होती है, यह निर्विवाद है। क्रिया, चिन्तन, स्थिरता से तादात्म्य तथा उसकी ममता ही संग है। ममता और तादात्म्य के नाश से ही असंगता सिद्ध होती है। यद्यपि सभी अवस्थायें समष्टि-शक्तियों से निर्मित हैं, परन्तु ममता तथा तादात्म्य के कारण उन अवस्थाओं का अभिमान प्राणी अपने में आरोपित कर लेता है। उसका भयंकर परिणाम यह होता है कि बेचारा साधक दीनता तथा अभिमान की अग्नि से दग्ध होता रहता है। इतना ही नहीं, अनुकूलता की दासता और प्रतिकूलता के भय में आबद्ध हो जाता है।

अतएव सभी अवस्थाओं से असंग होना है। पर वह तभी संभव होगा जब प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में शान्ति का सम्पादन किया जाय। उसके लिए अवस्थातीत जीवन की जिज्ञासा तथा उत्कट लालसा अनिवार्य है। वास्तव में अवस्थातीत जीवन ही जीवन है। प्रत्येक अवस्था परिवर्तन-

शील तथा परप्रकाश्य है। उससे तादात्म्य बनाये रखना भारी भूल है। दुःख का प्रभाव भूलजनित सुख के प्रलोभन को खाकर सजगता, उदारता, निष्कामता एवं असंगता प्रदान करने में समर्थ है। उदारता जगत् के लिये उपयोगी होती है और निष्कामता-पूर्वक असंगता अपने लिए उपयोगी होती है।

उदारता की पूर्णता में असंगता और असंगता की सिद्धि में उदारता ओतप्रोत है। अपनी-अपनी रुचि, योग्यता एवं सामर्थ्य के अनुसार कोई उदारता को अपनाकर असंग हो जाता है और कोई असंग होकर उदार होता है। यह नियम है कि उदारता की अभिव्यक्ति होने पर जब जीवन जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध हो जाता है, तब अपने लिए जगत् की अपेक्षा नहीं रहती और फिर स्वतः असंग होने की सामर्थ्य आ जाती है। यह अनन्त का मङ्गलमय विधान है। असंगता से जीवन अपने लिए उपयोगी सिद्ध होता है। इस दृष्टि से उदारता में असंगता निहित है।

सजगता-पूर्वक असंग होने पर भी जीवन अपने लिए उपयोगी होता है और फिर पराधीनता की गन्ध भी नहीं रहती। स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होने पर भी जीवन जगत् के लिए हितकर सिद्ध होता है। कारण कि चाह-रहित की चाह सभी को होती है। अतः असंगता में भी उदारता निहित है। हृदयशील साधक उदारता अपनाकर असंग होते हैं और विचारशील साधक असंग होकर उदार होते हैं। भाव-शक्ति की सबलता से हृदयशीलता और विचार शक्ति की प्रबलता से निष्कामता आती है, जो असंगता में हेतु है।

जिस अनन्त की अहैतुकी कृपा से मानव मात्र को भाव-शक्ति, विवेक-शक्ति तथा सामर्थ्य मिली है, उसके लिए जीवन उपयोगी तभी हो सकता है, जब साधक उदारता तथा असंगता से प्राप्त शान्ति में रमण नहीं करता एवं स्वाधीनता में सन्तुष्ट नहीं होता। तब उसे अनन्त की कृपा-शक्ति स्वत: अनन्त की आस्था, श्रद्धा, विश्वास एवं आत्मीयता प्रदान करती है, जिससे अगाध प्रियता उदित होती है और फिर जीवन अनन्त के लिए उपयोगी सिद्ध होता है।

अहंभाव-रूपी अणु में ही जगत् का बीज, तत्त्व की जिज्ञासा एवं अगाध-प्रियता की उत्कट लालसा विद्यमान है। पराधीनता में जीवन-बुद्धि अर्थात् वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, अवस्था आदि के द्वारा सुख की आशा ही जगत् का बीज है। सुख की आशा ने ही व्यक्ति को अधिकार-लालसा में आबद्ध कर दिया है जिससे बेचारा प्राणी राग तथा क्रोध से आक्रान्त हो जाता है। राग से जड़ता तथा क्रोध से विस्मृति उत्पन्न होती है, जो अवनति का मूल है।

दुःख का प्रभाव सुख के प्रलोभन को नष्ट कर साधक को अधिकार-लालसा से रहित कर देता है और फिर स्वत: कर्त्तव्य-परायणता अर्थात् सेवाभाव उदय होता है, जिसके होते ही अहं-रूपी अणु में से जगत् का बीज नष्ट हो जाता है। जगत् का बीज नष्ट होने पर निष्कामता की अभिव्यक्ति होती है। निष्कामता की भूमि में ही जिज्ञासा-पूर्ति के लिए स्वत: विचार का उदय होता है।

जिस प्रकार सूर्य का उदय होने पर अन्धकार शेष नहीं

रहता, उसी प्रकार विचार का उदय होते ही अविचार शेष नहीं रहता। अर्थात् स्वतः तत्व-जिज्ञासा की पूर्ति हो जाती है, जिसके होते ही स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश हो जाता है। स्वाधीनता का आश्रय पाकर अहं-रूपी अणु का सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग शेष रहता है। अगाध-प्रियता की जागृति के बिना अहं का अत्यन्त अभाव सम्भव नहीं है। यद्यपि स्वाधीनता अविनाशी तत्व है, परन्तु उसके आश्रित अहं को जीवित रखना भूल है।

जिस प्रकार क्रिया, चिन्तन और स्थिति का आश्रय पाकर परिच्छिन्नता जीवित रहती है, उसी प्रकार शान्ति तथा स्वाधीनता का आश्रय पाकर अहं-रूपी अणु का सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग शेष रहता है। यह नियम है कि जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, वह अन्य सत्ता के आश्रित अपने को जीवित रखता है। इसी कारण विश्राम तथा स्वाधीनता के आश्रित अहं जीवित रहता है। विश्राम में सामर्थ्य और स्वाधीनता में अमर-जीवन निहित है।

सामर्थ्य और अमरत्व को पाकर सन्तुष्ट हो जाना अपने को अगाध-प्रियता से विमुख रखना है। इस कारण विश्राम और स्वाधीनता एकमात्र अगाध-प्रियता की जागृति में साधन रूप हैं। साधन में साध्य-बुद्धि साधन का मोह है जो साधक के अहं को जीवित रखता है। साधक का वास्तविक स्वरूप परम-शान्ति, अखण्ड-स्मृति एवं अगाध-प्रियता है। जो साधक का स्वरूप है, वही साध्य का स्वभाव है। साधक साध्य के स्वभाव से अभिन्न होकर कृतकृत्य होता है। इस दृष्टि से दुःख के प्रभाव में ही जीवन की पूर्णता निहित है। 

मानव सेवा संघ के ११ नियम.

१—आत्म-निरीक्षण, अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।

२—की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर, सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना।

३—विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर, अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।

४—जितेन्द्रियता, सेवा, भगवच्चिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।

५—दूसरों के कर्त्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना वल, न मानना।

६—पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी, पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव, अर्थात् कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।

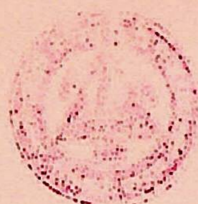
७—निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति क्रियात्मक रूप से सेवा करना।

८—शारीरिक हित की दृष्टि से आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में स्वावलम्बन।

९—शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहम् को अभिमान-शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।

१०—सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्व देना।

११—व्यर्थ-चिन्तन त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना।



मूल्य : ५ रुपये

४००० फरवरी १९६४